SWAMI VIVEKANANDA

The Hindoo Monk of India

मासिक

विवेक-ज्योति

वर्ष ३७, अंक ११
नवम्बर १९९९
मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर, १९९९

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक ५०/- | वर्ष ३७ अंक ११ | एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(नौवीं तालिका)

३६७. श्री चेतराम रहबर, सेक्टर १३, हिसार (हरियाणा)
३६८. श्री चन्द्रमौलि स्वामी, मढ़ी, नर्मदा-बड़ौदा (गुजरात)
३६९. श्री ओमप्रकाश छारिया, अलीपुर, कलकत्ता (प. बंगाल)
३७०. श्री हरी सिंह मोहता, सिविल लाइन, रायपुर (म.प्र.)
३७१. श्री तारा चन्द सिंहल, अलीपुर, कलकत्ता, (प. बंगाल)
३७२. श्रीमती लक्ष्मी देवी, लंका, बी. एच. यू., वाराणसी (उ.प्र.)
३७३. सुश्री ललिता नेगी, विकासपुरी, नई दिल्ली
३७४. श्री जयनारायण अग्रवाल, जवाहर रोड, छतरपुर (म.प्र.)
३७५. श्रीमती मंजू बॅनर्जी, जशपुर नगर (म.प्र.)
३७६. श्री विजय खण्डेलवाल, नेताजी चौक, धमतरी (म.प्र.)
३७७. डॉ. रमेश खण्डेलवाल, बस्तर रोड, धमतरी (म.प्र.)
३७८. डॉ. राजकिशोर रंजन, बदेहरा, खगड़िया (बिहार)
३७९. डॉ. के. जी. पाण्डेय, जी. ई. रोड, रायपुर (म.प्र.)
३८०. श्रीमती लिली बॅनर्जी, लक्ष्मीपुर, रायगढ़ (म.प्र.)
३८१. श्री कुंजबिहारी देव, बहीगाँव, बस्तर (म.प्र.)
३८२. कुमारी चन्दा नलमवार, अलसी प्लाट, अकोला (महाराष्ट्र)
३८३. मे. अशोक टेक्सटाइल्स स्टोर्स, मदनगंज, किशनगढ़, अजमेर (राज.)
३८४. श्री अरविन्द कुमार भगत, शैलेन्द्र नगर, रायपुर (म.प्र.)
३८५. श्री के. एल. विश्नोई, जलविहार कॉलोनी, रायपुर (म.प्र.)
३८६. श्री रामप्रसाद जी झुनझुनवाला, शैलेन्द्र नगर, रायपुर (म.प्र.)
३८७. सुश्री अनिता गुप्ता, पीतमपुरा, दिल्ली
३८८. श्री कमलेश कुमार शर्मा, कोटा, रायपुर (म.प्र.)
३८९. श्रीमती अलका नरेन्द्र मोहन शर्मा, नरहरपुर, काँकेर (म.प्र.)
३९०. डॉ. शारदा प्रसाद गुप्ता, महावीर रोड, सतना (म.प्र.)
३९१. श्री आर. एन. राव, जरीपटका, नागपुर (महाराष्ट्र)
३९२. श्री परितोष बेल्गो, नाभा स्टेट, शिमला (हिमांचल प्र.)
३९३. श्री शेर सिंह चन्देल, जाँजगीर, चम्पा (म.प्र.)
३९४. श्री प्रमोद कुमार अग्रवाल, गोविन्दपुरा, भोपाल (म.प्र.)
३९५. श्रीमती कुसुम रतेरिया, सुभाष चौक, रायगढ़ (म.प्र.)
३९६. श्री श्याम सुन्दर तिवारी, व्यास कला, जूनी इन्दौर (म.प्र.)
३९७. डॉ. पी. एम. पान्से, पाठा खेड़ा, बैतूल (म.प्र.)
३९८. डॉ. प्रकाश नारायण शुक्ला, चौबे कॉलोनी, रायपुर (म.प्र.)
३९९. श्री रितुपर्ण शुक्ला, सिम्फेरोपाल, उक्रेन

वार्षिक सदस्यों से निवेदन

(१) जिन सदस्यों का वार्षिक चन्दा दिसम्बर अंक के साथ समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपने चन्दे का रु. ५०/– संलग्न मनिआर्डर फॉर्म के द्वारा भिजवा देवें।

(२) सदस्यों से निवेदन है कि वे मनिआर्डर के कूपन में भी अपना नाम और पिन कोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो कृपया लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) जिन सदस्यों को प्राय: डाक की अव्यवस्था के कारण पत्रिका न मिलने की शिकायत रहती है, उनसे अनुरोध है कि वे यदि प्रति अंक ३/– रुपये का अतिरिक्त खर्च वहन करके पत्रिका को वी. पी. से मँगवायें तो उन्हें सभी अंक सुरक्षित मिल जायेंगे। यह राशि हमारे कार्यालय को भेजने की आवश्यकता नहीं, बल्कि अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी। सदस्यों पर यह अतिरिक्त व्ययभार पड़ने का हमें खेद है, परन्तु पत्रिका की सुरक्षित प्राप्ति का यही सरल उपाय है। आशा है आप हमें उसमें सहयोग देंगे। जिन सदस्यों को हमारा यह सुझाव मान्य हो, वे कृपया हमें इसकी सूचना दें।

(४) अंक न मिलने की शिकायत एक माह पूरा हो जाने के बाद ही करें। पत्र लिखते समय अपनी सदस्यता संख्या तथा अपने नाम व पिनकोड सहित पूरे पते का स्पष्ट रूप से उल्लेख करें।

– व्यवस्थापक

एजेंट बनिए

'विवेक-ज्योति' के स्वस्थ, उदात्त तथा शक्तिदायी विचारों के व्यापक प्रचार-प्रसार को व्यवस्थित रूप देने के लिए जगह जगह पर इसकी नयी एजेंसियाँ देने का निश्चय किया गया है। हमारे इस महत् कार्य में सहयोग देने के लिए कोई भी अपना पंजीकरण करा सकता है। एजेंसी के नियमों तथा शर्तों की जानकारी प्राप्त करने के लिए लिखें।

– व्यवस्थापक

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

वानप्रस्थ की ओर

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः ।
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखाप्त-स्वल्पवित्त-स्मयपवनवशान्-नर्तित भ्रूलतानि ॥

अर्थ – क्या गिरि-कन्दराओं से कन्द-मूल आदि विनष्ट हो गये हैं? या पर्वत से निकलनेवाले सोते सूख गये हैं? क्या सरस फलों तथा वल्कल से युक्त वृक्ष-शाखाएँ दुष्प्राप्य हो गयी हैं? (अवश्य हो गयी होंगी) नहीं तो लोग (भोजन-वस्त्र तथा निवास के लिए) क्यों अत्यन्त विनयरहित दुष्टों के (बड़े) कष्ट द्वारा अर्जित थोड़े से धन के गर्व के वायु से झोकों से सर्वदा नाचती हुई भौहों से युक्त मुख की ओर ताकते रहते है?

पुण्यैर्मूलफलैस्तथा प्रणयिनीं वृत्तिं कुरुष्वाधुना
भूशय्यां नवपल्लवैरकृपणैरुत्तिष्ठ यावो वनम् ।
क्षुद्राणामविवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा
वित्तव्याधिविकारविह्वलगिरां नामापि न श्रूयते ॥

अर्थ – इसलिए (हे मित्र), उठो और आओ अब हम वन में चलकर पवित्र फल-मूल को ही अपनी परम सुखकर आजीविका तथा (कोमल) नवीन पत्तियों से धरती पर शय्या बनाएँगे; जहाँ क्षुद्र, अविवेकी तथा मूढ़ चित्तवाले और सर्वदा धनरूपी रोग के विकार से विकल वाणीवाले ऐश्वर्यशालियों का नाम तक सुनाई नहीं पड़ता ।

— भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम्, २५, २६

कालिका-वन्दन

– १ –

मुण्डमाला धारिणी, कालिके भव हारिणी,
हृदयपद्म विलासिनी, शोक ताप विदारिणी ।।

युद्ध तेरा मोद है, मृत्यु तेरी गोद है,
घोर तम के बीच भी, ज्योति वर्षण-कारिणी ।।

शत्रु हैं मेरे प्रबल, दे मुझे उत्साह-बल,
साथ रहना सर्वदा, माँ वराभय दायिनी ।।

स्नेह का अमृत पिला, चेतना देकर जिला,
तू सुषुम्ना मार्ग से, ऊर्ध्व पथ संचारिणी ।।

– २ –

कौन तुम हर हृदि विलासिनी ।
श्यामवर्णा रूप अनुपम, निखिल विश्व प्रकाशिनी ।।

देख खप्पर खड्ग कर में, काँप उठते अरि समर में,
दानवों की रुधिर धारा, पान कर उल्लासिनी ।।

डोलती गल मुण्डमाला, नृत्य करती हो कराला,
नाश कर खल-असुर-दल का, अट्ट-अट्ट हासिनी ।।

वेद शास्त्र पुराण दर्शन, देखते यह दिव्य नर्तन,
समझ पाया सुत न लीला, मातु भव-भय-नाशिनी ।।

– विदेह

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

४२१, रास्ता नं. २१
लास एंजिलिस,
२३ दिसम्बर, १८९९

प्रिय निवेदिता,

वास्तव में मैं चुम्बकीय चिकित्सा-पद्धति (magnetic healing) से क्रमश: स्वस्थ होता जा रहा हूँ। सच तो यह है कि अब मैं अच्छी तरह से हूँ। मेरे शरीर का कोई भी यन्त्र कभी नहीं बिगड़ा – स्नायुसम्बन्धी दुर्बलता तथा अजीर्ण ने ही मेरे शरीर में गड़बड़ी पैदा की थी।

अब मैं प्रतिदिन या तो भोजन से पहले या बाद में कोसों टहलने जाता हूँ। मैं पूर्ण रूप से स्वस्थ हो चुका हूँ और मेरा दृढ़ विश्वास है कि मैं ठीक ही रहूँगा।

अब चक्र घूम रहा है – माँ उसे घुमा रही हैं। उनका कार्य जब तक समाप्त नहीं होता, तब तक वे मुझे छोड़ना नहीं चाहतीं – असली बात यही है।

देखो, इंग्लैण्ड किस प्रकार से उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है! इस खून-खराबी के बाद वहाँ के लोगों को इस प्रकार की 'लगातार लड़ाई, लड़ाई, लड़ाई' की अपेक्षा महान् एवं श्रेष्ठ वस्तु के चिन्तन का अवकाश प्राप्त होगा। यही हमारे लिए सुअवसर है। अब हम पृथक् पृथक् टोलियाँ बनाकर, थोड़ा प्रयत्न करके उन्हें पकड़ेंगे, पर्याप्त मात्रा में धन एकत्र करेंगे और उसके बाद भारत के कार्य को भी पूर्ण रूप से चालू कर देंगे। चारों ओर की अवस्थाएँ बहुत-कुछ आशाप्रद प्रतीत हो रही हैं; अत: तैयार हो जाओ। चारों बहने तथा तुम मेरा स्नेह जानना। इति।

विवेकानन्द

(२)

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

लास एंजिलिस,
२७ दिसम्बर, १८९९

प्रिय धीरामाता,

आगामी नववर्ष आपके लिए शुभ हो एवं इसी प्रकार से अनेक बार होता रहे – मेरी यही अभिलाषा है। मेरा स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा बहुत-कुछ अच्छा है तथा कार्य करने लायक यथेष्ट शक्ति भी मुझे प्राप्त हो गयी है। अब मैंने कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है तथा सदानन्द को कुछ रुपये – १३०० रुपये – भेज दिये हैं ... आवश्यकता पड़ने पर और भी भेज दूँगा। तीन सप्ताह से सारदानन्द का कोई समाचार नहीं मिला है; और आज

सूर्योदय से पूर्व मैंने एक दु:स्वप्न देखा है । मैं बीच बीच में बेचारे बालकों के साथ न जाने कितना कठोर व्यवहार करता हूँ! फिर भी ऐसे आचरणों के बावजूद भी वे यही जानते हैं कि मैं ही उनका सर्वोत्तम मित्र हूँ । ... तीन सप्ताह पूर्व मैंने उनको 'तार' द्वारा सूचित कर दिया है कि मैं अब सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ हो चुका हूँ । मुझे और अधिक यदि अस्वस्थ न होना पड़े तो जैसा स्वास्थ्य इस समय है, उसी से कार्य चलता रहेगा । मेरे लिए आप कतई चिन्तित न हों; पूर्ण उद्यम के साथ मैं कार्य में जुट गया हूँ ।

मुझे खेद है कि मैं और कोई कहानी नहीं लिख सका हूँ । उसके अलावा मैंने और भी कुछ कुछ लिखा है एवं प्रतिदिन ही कुछ लिखने की आशा रखता हूँ । पहले की अपेक्षा इस समय मैं अधिक शान्ति का अनुभव कर रहा हूँ तथा यह समझ गया हूँ कि इस शान्ति को स्थायी बनाये रखने का एकमात्र उपाय दूसरों को शिक्षा प्रदान करना है । कार्य ही मेरे लिए एकमात्र 'सेफ्टी वाल्व'(Safety Valve) है । मुझे कुछ परिष्कृत मस्तिष्कवाले व्यक्तियों की जरूरत है, जो उद्यम से कार्य करने के साथ-ही-साथ मेरे आनुषंगिक समस्त विषयों की भी देखभाल कर सकें । भारत में ऐसे लोगों की खोज के लिए बहुत समय नष्ट होने का डर है; और यदि ऐसे लोग वहाँ प्राप्त हों, फिर भी उन्हें किसी पाश्चात्यवासी से शिक्षा लेना उचित है । साथ ही मेरे लिए कार्य सम्पन्न करना तभी सम्भव होता है, जब मुझे पूर्णतया अपने ही पैरों पर खड़ा होना पड़ता है । नि:संग दशा में मेरी शक्ति का विकास अधिक होता है । माँ की इच्छा भी मानो ऐसी ही है । 'जो' का यह विश्वास है कि माँ के हृदय में अनेक बड़ी-बड़ी योजनाएँ हैं – मैं चाहता हूँ कि उसकी धारणा सत्य हो । 'जो' तथा निवेदिता मानो वास्तव में भविष्यद्रष्टा बनती जा रही हैं । मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने अपने जीवन में जो कुछ कष्ट उठाये हैं, जो कुछ यातनाएँ सही हैं – वे सब एक आनन्दपूर्ण आत्मत्याग में परिणत होंगी,यदि माँ पुन: भारत की ओर दृष्टिपात करें ।

क्रिस्टिन ने मुझे एक बड़ा सुन्दर पत्र लिखा है – उसका अधिकांश ही आपसे सम्बन्धित है । तुरीयानन्द के बारे में उनकी धारणा भी उच्च है । तुरीयानन्द से मेरा प्यार कहें । मुझे विश्वास है कि वह अच्छी तरह से कार्य सम्पादन कर सकेगा । उसमें साहस तथा धैर्य है ।

मैं कार्य करने शीघ्र ही कैलिफोर्निया जा रहा हूँ । कैलिफोर्निया छोड़ते समय तुरीयानन्द को मैं वहाँ पर बुला लूँगा और उसे प्रशान्त महासागर के किनारे पर कार्य में जुटा दूँगा । मेरी यह निश्चित धारणा है कि वहाँ एक विशाल कार्यक्षेत्र है । कुमारी क्रिस्टिन को आपके मकान में बहुत शान्ति मिली है एवं वे आनन्दपूर्वक हैं, इससे मुझे अत्यन्त खुशी हुई । दिनोंदिन सब विषयों में उन्हें सुविधा प्राप्त हो । उनमें अपूर्व कार्यदक्षता तथा उद्यम है ।...

विचित्र चिकित्सा के फलस्वरूप अथवा कैलिफोर्निया के 'वजन' के कारण या वर्तमान ग्रहदशा दूर हो जाने की वजह से, चाहे जिस कारण हो, मैं स्वस्थ हो रहा हूँ । भरपेट भोजन के बाद तीन मील पैदल घूमना निस्सन्देह एक बहुत बड़ी बात है!

ओलिया को मेरा आन्तरिक स्नेह तथा आशीर्वाद दें और डा. जेम्स एवं बोस्टन के अन्य बन्धुओं से मेरा प्यार कहें । इति ।

आपकी चिरसन्तान,

विवेकानन्द

दीपावली का तात्पर्य

स्वामी आत्मानन्द

दीपावली भारत का सबसे बड़ा त्यौहार है। इस पर्व पर छोटी-से-छोटी झोपड़ी से लेकर बड़े-से-बड़े महल तक दीये के प्रकाश से जगमगा उठते हैं। आजकल भले ही लोग बिजली के लट्टुओं से सुन्दर सजावट करें, पर वे भी दीप जलाना नहीं भूलते। जहाँ देखें वहाँ दीपों की कतार दिखाई पड़ती है। दीपावली का अर्थ भी दीपों की कतार ही है।

यह त्यौहार कैसे शुरू हुआ – इस सम्बन्ध में विविध मान्यताएँ हैं। एक मुख्य मान्यता यह है कि आज इसी दिन अयोध्या की प्रजा ने चौदह वर्षों के वनवास से लौटकर आये हुए श्रीराम के राज्यारोहण का महोत्सव मनाया था। जो अयोध्या चौदह वर्षों तक सूनी सूनी और अँधेरे में डूबी हुई उदास पड़ी थी, वह श्रीराम के आगमन से इसी दिन प्रकाश से जगमगा उठी थी। तभी से इस पर्व पर हर वर्ष दीपमालिका जलाकर हर्ष प्रकट किया जाता है। दूसरा कारण यह है कि इस शरद ऋतु के आगमन के साथ वर्षा से धुला हुआ निसर्ग, धरती समेत चमक उठता है। वर्षा के अन्त की सूचना देनेवाले इस पर्व में वर्षा से उत्पन्न गन्दगी को दूर करके, घरों को लीप-पोतकर साफ करके, दीपमालिका के स्निग्ध प्रकाश से आलोकित किया जाता है।

तीसरा कारण है – नयी फसल का आगमन। कार्तिक के महीने में खेतों से पका हुआ अनाज खलिहानों में पहुँचकर समृद्धि के आगमन की सूचना देता है। अतएव समृद्धि की देवी लक्ष्मी की अगुवानी के रूप में भी दीपमालाएँ सजायी जाती हैं। यह भी माना जाता है कि आज ही के दिन समुद्र मन्थन से लक्ष्मीजी निकली थीं। पर बात यह है कि घर-द्वार को स्वच्छ करके दीप-मालिकाओं के सजाने मात्र से लक्ष्मी प्रसन्न नहीं होतीं, उनकी प्रसन्नता के लिए जिन बातों की आवश्यकता होती है, उनका वर्णन करते हुए वे स्वयं पुराणमुख होकर कहती हैं – "मैं उन पुरुषों के घरों में नित्य निवास करती हूँ, जो स्वरूपवान, चरित्रवान, कर्मकुशल तथा तत्परता से अपने कर्तव्य को पूरा करनेवाले होते हैं, जो क्रोधी नहीं होते, देवताओं में भक्ति रखते हैं, कृतज्ञ और जितेन्द्रिय होते हैं; जो अपने गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा में निरत रहते हैं, विषम परिस्थितियों में भी अपने को काबू में रख सकते हैं तथा आत्मविश्वासी और क्षमाशील होते हैं।" इसके पश्चात् लक्ष्मी देवी उनका भी वर्णन करती हैं, जो उन्हें पसन्द नहीं हैं। वे कहती हैं – "उन पुरुषों के घर तो मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं, जो अकर्मण्य, आलसी, नास्तिक तथा कृतघ्न हैं, जो अपनी बात पर कायम नहीं रहते, कठोर वाणी बोलते हैं, चोरी करते हैं, अपने गुरुजनों से डाह करते हैं, जिनमें तेजस्विता नहीं होती तथा जो शरीर से दुर्बल और आत्मगौरव से हीन होते हैं।

चौथी मान्यता यह है कि कार्तिक मास के धन-तेरस से अमावस्या तक के तीन दिनों में ही वामनरूपी भगवान विष्णु ने दैत्यराज बलि से सम्पूर्ण लोक ले लेने के पश्चात् उसे

पाताल लोक जाने को विवश करते हुए एक वरदान माँग लेने की आज्ञा दी थी। तब पुण्यात्मा बलि ने कहा था – "भगवन्! मुझे तो आपका दर्शन पा लेने के पश्चात् किसी अन्य वरदान की आकांक्षा नहीं है, किन्तु जब आप आज्ञा दे रहे हैं तो यही वरदान दीजिए कि जिन कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्या के तीन दिनों में आपने मुझसे पृथ्वी लोक ग्रहण किया है, इन तीन दिनों में जो प्राणी मृत्यु के देवता यमराज के उद्देश्य से दीपदान करे, उसे यम की यातना न मिले और उसका घर कभी लक्ष्मी से विहीन न हो।"- राजा बलि की यह प्रार्थना भगवान ने स्वीकार कर ली और तभी से ये तीन दिन यम के उद्देश्य से किये जानेवाले दीपदान रूप दीपावली का प्रचलन हुआ।

पाँचवी मान्यता के अनुसार प्राग्ज्योतिषपुर का नरेश भूमिपुत्र भौम, जो नरकासुर के नाम से भी जाना जाता था तथा जो अत्यन्त आततायी और दुष्ट था, उसका भगवान कृष्ण ने बड़ी युक्ति से चतुर्दशी के दिन वध करके उसके कारागार में बन्दिनी हजारों राजकुलों की स्त्रियों तथा राजाओं की मुक्ति की थी। इसलिए यह तिथि नरक-चतुर्दशी के नाम से विख्यात हुई। उसके कारागार से मुक्त होने की खुशी में राजाओं और उनकी प्रजाओं ने दीपमालाएँ जलाकर खूब उत्सव किया था। तब से दीपावली का शुभारम्भ हुआ।

सारांश में – दीपावली अन्धकार, गन्दगी, बन्धन और अज्ञान से मुक्ति की सूचना देनेवाला पर्व है; जुआ इत्यादि अशुभ अवांछनीय कर्मों के द्वारा खुशी पाने का नहीं, बल्कि शुभ कर्मों के द्वारा श्री तथा ऐश्वर्य की कृपा पाने का पर्व है। □

निर्भयता ही मुक्ति है

इस जीवन में जो हताश-चित्त रहते हैं, उनसे कोई भी कार्य नहीं हो सकता। वे जन्म-जन्मान्तर में 'हाय, हाय' करते हुए आते हैं और चले जाते हैं। 'वीरभोग्या वसुन्धरा' - वीर लोग ही वसुन्धरा का भोग करते हैं - यह वचन नितान्त सत्य है। वीर बनो, सर्वदा कहो - अभीः अभीः - मैं भयशून्य हूँ, मैं भयशून्य हूँ। सबको सुनाओ - माभैः माभैः - भय मत करो, भय मत करो। भय ही मृत्यु है; भय ही पाप है, भय ही नरक, भय ही अधर्म तथा भय ही व्यभिचार है। जगत् में जो असत् या मिथ्या भाव हैं, वे सब इस भयरूप शैतान से उत्पन्न हुए हैं। इस भय ने ही सूर्य के सूर्यत्व को, वायु के वायुत्व को, यम के यमत्व को अपने अपने स्थान पर स्थिर रख छोड़ा है, अपनी अपनी सीमा से किसी को बाहर नहीं जाने देता। इसीलिए श्रुति कहती है -

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।। (कठ उप.)

जिस दिन इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण भयशून्य होंगे, उसी दिन सब ब्रह्म में लीन हो जायेंगे - सृष्टिरूप अध्यास का लय हो जायेगा। इसीलिए कहता हूँ - अभीः अभीः।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(तिहत्तरवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे सकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

अवतार और उनके पार्षद

ठाकुर स्टार थियेटर में 'चैतन्य-लीला' नाटक देखने आए हैं । उसी की चर्चा चल रही है । नाटक में निताई (नित्यानन्द) निमाई (चैतन्य) को खोज रहे हैं और निमाई भी निताई को ढूँढ़ रहे हैं । यह निमाई और निताई का सम्बन्ध वैष्णव भक्तिशास्त्र की एक विशेष घटना है । निमाई समस्त भावों के आधार हैं और निताई ही उसे ग्रहण करने के योग्य अधिकारी हैं । गौड़ीय वैष्णव समाज में चैतन्य, नित्यानन्द और अद्वैत – ये तीनों नाम एक साथ लिए जाते हैं । चैतन्यदेव प्रेम के स्रोत हैं और निताई उस प्रेम का वितरण करते हैं । निताई मानो उनके भावों के धारक तथा वाहक हैं । अवतार जब इस धरती पर आते हैं, तो वे अपने किसी विशेष पार्षद को आधार बनाकर, उन्हीं के माध्यम से अपना कार्य करते हैं । निताई उसी तरह के अद्वितीय पार्षद हैं और अद्वैताचार्य के बारे में कहा जाता है कि उन्हीं की आकुल पुकार से भगवान अवतीर्ण हुए थे । इसलिए अद्वैताचार्य भगवान के अवतीर्ण होने के विशेष कारण हुए । चैतन्यदेव कहते हैं कि अद्वैत पुजारी हैं, उन्होंने आह्वान किया है ।

वर्तमान युग में भी हम देखते हैं कि श्रीमाँ और स्वामीजी – ये दोनों श्रीरामकृष्ण की उसी सत्ता के दो धारक तथा वाहक हैं, अर्थात् एक ही सत्ता की ये तीन अभिव्यक्तियाँ हैं ।

नाटक में निमाई (चैतन्यदेव) निताई से कहते हैं, "मेरा जीवन सार्थक है ।" क्यों? क्या उनमें कोई अपूर्णता थी जो निताई के आने से पूर्ण हुई? अपूर्णता नहीं थी, बल्कि वे जिस उद्देश्य से देह धारण करके आए थे, वह निताई के सहयोग से सफल होगा, इसीलिए कहते हैं – मेरा जीवन सार्थक है । आगे कहते हैं, "मेरा स्वप्न सत्य हुआ ।" अर्थात् घनिष्ठ पार्षदों के साथ अवतारों का पहले से ही परिचय रहता है । श्रीरामकृष्ण के जीवन में इसका स्पष्ट परिचय हमें कई बार मिला है । ठाकुर कहते हैं – "किसी किसी को देखकर मैं अचानक ही क्यों उछल पड़ता हूँ, जानते हो? जैसे किसी अन्तरंग को बहुत दिनों बाद देखने पर लोग आनन्द से उछल पड़ते हैं, वैसा ही मुझे होता है ।" उन्होंने भी अपने लीला-सहचरों की प्रतीक्षा की थी । स्वामीजी को पहली बार देखते ही पहचान लेने पर कितनी स्तव-स्तुति करते हैं! यहाँ भी नित्यानन्द के साथ निमाई का मिलन हुआ ।

थियेटर में नाटक चल रहा है । श्रीवास ने षड्भुजा मूर्ति का दर्शन किया । ठाकुर भी भावाविष्ट होकर षड्भुजा-मूर्ति के दर्शन कर रहे हैं । श्री चैतन्य का भाव समझकर

नित्यानन्द गा रहे हैं – "क्यों री सखी, कुंज में श्रीकृष्ण कब आये?" चैतन्यदेव ने राधिका जी का भाव लेकर शरीर धारण किया है। उन्हें **'राधाभावद्युतिसवलिततनु कृष्णस्वरूपम्'** कहा गया है। चैतन्य अवतार की व्याख्या करते हुए 'चैतन्य-चरितामृत' में कहा गया है – श्रीराधा के प्रेम की महिमा कैसी है, मेरा वह माधुर्य जो राधा को मुग्ध करता है, वह कैसा है और उस माधुर्य का आस्वादन करके श्रीराधा को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द भी कैसा है – इन तीन आकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए स्वयं भगवान श्रीकृष्ण राधिका की भावकान्ति को अंगीकार करके नवद्वीप धाम में अवतीर्ण हुए। ये सब भाव की बातें हैं। इस सन्दर्भ में हमें श्रीरामकृष्ण की एक बात याद आती है। उन्होंने कहा था – देखो, इसके (स्वयं को दिखाकर) भीतर दो हैं – एक भगवान और एक भक्त। अवतार का चरित्र साधारण बुद्धि के द्वारा समझ में नहीं आता। कभी वे (अपनी देह की ओर दिखाकर) कहते हैं – इसका चिन्तन करना; और कभी वे रो रोकर कहते हैं – माँ, अभी तक तुम्हारा दर्शन नहीं मिला। यहाँ (चैतन्य-लीला में) भी इन दोनों भावों का समावेश हुआ है।

श्रीराधा की भगवान के लिए व्याकुलता अतुलनीय है। इस व्याकुलता को समझाने के लिए दूसरी कोई उपमा नहीं मिलती। ठाकुर कहते हैं – जीव को यह महाभाव नहीं होता। वैष्णव शास्त्रों में कहा गया है कि एकमात्र श्रीराधा ही महाभाव की अधिकारिणी हैं – 'महाभावस्वरूपा श्रीराधा ठाकुरानी'। श्री चैतन्य उस राधा भाव का आश्रय लेकर आए हैं। इसीलिए उनमें इतनी पीड़ा और इतनी व्याकुलता है। श्रीराधा को भगवान की आह्लादिनी या आनन्ददायिनी शक्ति कहा जाता है – वह शक्ति, जिसके द्वारा भगवान जगत में आनन्द तथा प्रेम का वितरण करते हैं। इसलिए राधा और कृष्ण – ये दोनों भिन्न नहीं हैं, दोनों में पूर्ण भगवत्ता है। दोनों में भेद केवल इतना है कि एक का प्राकट्य भगवान के रूप में होता है और दूसरे का भक्त के रूप में। ये दोनों ही तत्त्व चैतन्यदेव में अभिव्यक्त हुए हैं। भागवत में कहा गया है – **त्वयीश्वरे ब्रह्मणि न विरुध्यते** – तुम परमेश्वर हो, ये विपरीत भाव तुम्हारे भीतर विपरीत नहीं हैं। दोनों भाव अपने में प्रकट करना उन्हीं के लिए सम्भव है।

इसके बाद जब ठाकुर का मन पुन: बाह्य जगत में लौट रहा है, तब वे देखते हैं कि उनके पीछे खड़दह के नित्यानन्द गोस्वामी के वंशज एक बाबू खड़े हैं। उन्हें देखते ही ठाकुर के मन में नित्यानन्द का भाव उदित हुआ, इसीलिए वे आनन्दविभोर हैं। ऐसा ही दृष्टान्त उस भक्त का है जो बबूल का पेड़ देखकर भावाविष्ट हो गये थे, यह सोचकर कि इसी लकड़ी से श्री राधाकान्त के बगीचे के लिए कुल्हाडी का बेट बनता है। इसी प्रकार काफी दूर का सम्बन्ध होने पर भी उनकी दृष्टि उन सबको भेदकर चली जाती है। वे कह रहे हैं, "और जरा देर रहता, तो मैं खड़ा हो जाता।" अर्थात् समाधि लग जाती।

अवतार और अभक्त

इसके बाद नित्यानन्द की जगाई-मधाई से भेंट हुई। जगाई-मधाई के उद्धार की कहानी से हम लोग परिचित हैं। भगवान केवल भक्तों के लिए ही नहीं, बल्कि अभक्तों तथा अपने विरोधियों के लिए भी आते हैं। श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव के अवसर पर दक्षिणेश्वर में अनेक दुष्ट लोग तथा गणिकाएँ भी आती थीं, जिसे देखकर किसी किसी ने स्वामीजी से शिकायत करते हुए कहा था कि इनका प्रवेश बन्द करने की व्यवस्था की जाय। स्वामीजी

उन दिनों अमेरिका में थे। उन्होंने इसके उत्तर में लिखा, "भगवान क्या केवल शुद्ध भक्तों के लिए आए हैं? जो मूर्ख हैं, जड़ हैं, पतित हैं, उन्हीं को ईश्वर की अधिक जरूरत है। अत: ठाकुर का दरवाजा किसी के लिए बन्द नहीं होगा। तथापि कुछ अनुचित न हो – इसके लिए प्रयास करना।

इसीलिए जगाई-मधाई को उदाहरण बनाकर पतितों के उद्धार के लिए ही भगवान का अवतरण होता है। उन पर करुणा करके वे उन्हें और भी निकट खींच लेते हैं। जगाई-मधाई भले ही महापापी हों, उनके उद्धारकर्ता तो हैं ही। गिरीश की मद्यपान की आदत पर ठाकुर कहते हैं – रहने दो, थोड़े दिन पीयेगा! बाद में उस वस्तु का स्वाद पाएगा, जिससे बाकी सब कुछ बेस्वाद हो जांयेगा। अवतार के उद्धार-कार्य की यही प्रक्रिया है।

अब निमाई के संन्यास का प्रसंग चल रहा है। दर्शकगण हाहाकार कर रहे हैं, परन्तु श्रीरामकृष्ण स्थिर बैठे हैं। वे जानते हैं कि संन्यास का आदर्श दिखाने के लिए भगवान का आविर्भाव हुआ है, तो भी आँखों के कोरों में एक एक बूँद प्रेमाश्रु झलक रहा है।

अभिनय समाप्त हुआ। एक भक्त ने पूछा, "आपने कैसा देखा?" श्रीरामकृष्ण हँसते हुए बोले, "असल और नकल एक देखा।" जिसने अभिनय किया उसे नहीं, बल्कि जिनका अभिनय किया उन्हें देखा। उनकी दृष्टि में नकल कुछ भी नहीं, सब असल है।

इसके बाद ठाकुर फिर से मुखर्जी की चक्की में आए हैं। अभी भी मन में चैतन्यदेव का भाव जाग्रत है। भाव में वे 'कृष्ण' नाम का उच्चारण कर रहे हैं।

महेन्द्र तीर्थयात्रा को जानेवाले हैं। अब उसी पर बात चल रही है। तीर्थ जाने की बात पर ठाकुर ने महेन्द्र को कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। श्रीरामकृष्ण स्वयं एक ऐसे महातीर्थ हैं कि जो चाहिए वह सब यहीं मिलने वाला है, फिर तीर्थ की क्या आवश्यकता? ज्यादा दौड़-धूप या घूमना-फिरना करने से भाव जमता नहीं, बल्कि सूख जाता है। शायद इसी कारण वे कहते हैं, "प्रेम का अंकुर उगे बिना ही जाओगे, तो सब सूख न जायेगा?" फिर भी मना नहीं किया। केवल इतना ही कहा कि जल्दी लौट आना। अध्यात्म-रामायण पर विश्वास के लिए उन्होंने महेन्द्र बाबू के पिता की प्रशंसा की। उदारता और सरलता के लिए महेन्द्रबाबू की भी प्रशंसा की। फिर इसी बीच उन्होंने यदु मल्लिक का भी स्मरण किया। मास्टर महाशय सोचते हैं कि क्या चैतन्यदेव की ही भाँति ये भी भक्ति सिखाने के लिए देहधारण करके आए हैं।

कई स्थानों पर श्रीरामकृष्ण के द्वारा भक्तों को लेकर आनन्द करने का चैतन्यलीला के साथ साम्य है। मास्टर महाशय ने श्रीरामकृष्ण के समक्ष इसका उल्लेख भी किया है। ठाकुर भी उन्हें इस विषय में उत्साहित करते और पूछते – और क्या क्या मिलता है? इसका तात्पर्य यह है कि ठाकुर इसी के द्वारा यह समझ लेते कि महेन्द्रनाथ ने मुझे कितना समझा है, कितनी धारणा कर सके हैं। ठाकुर इसी प्रकार भक्तों की जाँच करते थे। केवल इतना ही नहीं, लौकिक जीवन में भी उनकी परीक्षा करते थे, छोटी-मोटी चीजें भी ध्यान से देखते थे। और कहीं कोई त्रुटि दिखने पर उसमें सुधार भी कर देते थे, ताकि उनमें कोई दोष न रह जाय।

वही एक परमेश्वर सभी धर्मों का लक्ष्य है

ठाकुर शिवनाथ को देखने जा रहे हैं। शिवनाथ भगवान को पुकारते हैं और जो भगवान को पुकारता है, उसके भीतर सार है। इसीलिए शिवनाथ के प्रति ठाकुर का इतना आकर्षण है। शिवनाथ ब्राह्मसमाज के एक नेता हैं। निराकार में विश्वास करते हैं, तथापि साकार-वादियों के प्रति विद्वेष-परायण नहीं हैं। घर में शिवनाथ को न पाकर, ठाकुर ब्राह्मसमाज के मन्दिर में गये। वहाँ की वेदी को वे प्रणाम कर रहे हैं। कहते हैं – इसी वेदी पर बैठकर भगवान की कथा होती है, इसलिए वह पवित्र वस्तु है। ब्राह्मसमाज के अन्यान्य लोग शायद ठाकुर का यथायोग्य सम्मान न करें, इस आशंका से नरेन्द्रनाथ ने उन्हें समाज-मन्दिर में जाने से मना किया था। परन्तु श्रीरामकृष्ण कह रहे हैं, "मैं कहता हूँ, उनको सभी पुकार रहे हैं। द्वेष की क्या जरूरत है? कोई साकार कहता है और कोई निराकार।" अर्थात् जो जिसे मानता है, वह उसी पर विश्वास करके रहे, उसी भाव से उनका चिन्तन करे। परन्तु वे बारम्बार कहते हैं कि कट्टरता ठीक नहीं, अर्थात् जो मैं जानता हूँ, केवल वही ठीक है और बाकी सब गलत – यह समझना ठीक नहीं है। 'मेरा धर्म ठीक है, पर दूसरों का धर्म सच्चा है या गलत – यह मेरी समझ में नहीं आता' – ऐसा भाव अच्छा है, क्योंकि जब अन्य मतों का अनुसरण करके ही नहीं देखा, तो गलत भी कैसे कहेंगे? इसलिए वे बारम्बार कहते हैं कि ईश्वर का साक्षात्कार हुए बिना उनका स्वरूप समझ में नहीं आता।

उन्होंने यह भी कहा है कि सभी लोग एक ही वस्तु को चाहते हैं, लेकिन भिन्न भिन्न रूपों में चाहते हैं। वे कहते हैं कि जिसके पेट में जो सहता है, माँ उसके लिए वैसी ही व्यवस्था करती है। ईश्वर के सम्बन्ध में खोज करने के लिए उन्होंने ही विभिन्न पथों की सृष्टि की है, ताकि विभिन्न स्वभावों के लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न रास्तों से चल सकें। ठाकुर कहते हैं – मैं हर तरह का स्वाद लेना चाहता हूँ। अर्थात् सभी तरह के मार्गों से उनकी अनुभूति करना चाहते हैं। वस्तुत: उन्होंने अपने जीवन में यह करके दिखाया भी है। फिर उन्होंने यह भी बताया कि उन्होंने जो विविध प्रकार के धर्मों का आचरण किया है, वे सब ईश्वर नहीं, अपितु ईश्वर को पाने के विभिन्न मार्ग हैं। इसलिए हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि अभी हमने उन्हें पाया नहीं है, केवल एक रास्ता पकड़कर चल रहे हैं। अत: हमें अन्य मतों को भ्रान्त कहने का अधिकार नहीं है। ठाकुर आश्वासन देते हैं कि यदि कोई सच्चे हृदय से चलना आरम्भ करे, तो रास्ता गलत होने पर भी वे ही सुधार देते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा है – जगन्नाथ जी का दर्शन करने निकला पथिक अगर गलत रास्ता भी पकड़ ले तो कोई-न-कोई उसे सही रास्ता बता ही देता है और इस प्रकार वह जगन्नाथ जी का दर्शन पा लेता है। अत: ठाकुर ने इसी बात पर खूब जोर दिया है कि हमें अपने मार्ग के प्रति आन्तरिक निष्ठा रखनी होगी। दूसरे लोग जो कुछ करते हैं, उस पर कटाक्ष आदि करना – यह सब अत्यन्त बुद्धिहीनता का काम है।

इसके बाद वे निराकारवादियों की प्रशंसा करते हुए कहते हैं – "तुम लोगों का मत अच्छा है।" उन्हें जिस भाव में आस्वादन करना चाहोगे, उसी में पाओगे। गिरगिट के दृष्टान्त के माध्यम से ठाकुर ने समझाया कि वे सब कुछ हो सकते हैं। एक को ठीक से जान लेने पर दूसरे को भी जाना जा सकता है।

ठाकुर ब्राह्मसमाज के आचार्य विजय के सम्बन्ध में बोल रहे हैं । विजय ब्राह्मसमाज में वक्तृता देते हैं, परन्तु उन दिनों उस मत में जो एकांगी भाव रहता था, वह उनके व्याख्यानों में नहीं था । वे साकारवादियों के साथ मिलते-जुलते थे, इसलिए समाज के भक्तगण उन पर नाराज हैं । इसीलिए ठाकुर उन्हें समझा रहे हैं – देखो, जो ईश्वर का भक्त है, उसकी बुद्धि कूटस्थ होती है, जैसे लोहार के यहाँ की निहाई । हथौड़े की अनगिनत चोटें पड़ रही हैं, फिर भी निर्विकार है । लोग तुम्हें बहुत कुछ कहेंगे, तुम्हें सब सहना होगा । ऋषि लोग वन में ईश्वर की चिन्ता करते थे । वहाँ चारों ओर बाघ, रीछ, अनेक प्रकार के हिंसक पशु रहते थे । उनके डर से क्या वे ईश्वर चिन्तन छोड़ देते हैं? परन्तु थोड़ा-सा सावधान रहना पड़ता है । बीच बीच में साधुसंग करने की आवश्यकता है, नहीं तो हो सकता है कि मन पर बुरा प्रभाव पड़कर उसे विकृत कर दे । सत्संग होने पर सत्-असत् का विचार आता है, अन्यथा लक्ष्य से भ्रष्ट होने की आशंका रहती है ।

ईश्वर के पादपद्म को पाना ही संसार धर्म का भी लक्ष्य

विजय ठाकुर से कुछ उपदेश की याचना करते हैं । ठाकुर विजय से कह रहे हैं, "यह (ब्राह्मसमाज) एक तरह से अच्छा है । इसमें राब भी है और शीरा भी ।" गुड़ के पिघले हुए हिस्से को शीरा कहते हैं और जमे हुए हिस्से को राब कहते हैं । ठाकुर कहते हैं – केवल राब होना अच्छा नहीं । अच्छा-बुरा दोनों रहने से खेल चलता है, 'मैं अधिक चढ़कर जल गया हूँ', इसीलिए खेल नहीं चलता । तुम लोगों की दृष्टि संसार की ओर भी है और भगवान के मार्ग में जाने का आग्रह भी है । यह संसार अपना नहीं बल्कि प्रभु का है – इस दृष्टि से संसार करने पर यह बन्धन का कारण नहीं बनता । संसार में बड़े आदमियों के घर की दासी के समान रहना चाहिए । वह घर के सारे काम करती है, बाबू के बच्चे की अपने ही बच्चों के समान देखभाल करती है, परन्तु मन-ही-मन खूब जानती है कि न यह घर मेरा है और न यह लड़का । मेरा घर तो उस गाँव में है । इसी प्रकार हमें सावधान रहना होगा कि कहीं हम संसार में अपने को जकड़ न डालें । स्मरण रखना होगा कि भगवान के पादपद्म ही हमारा अपना घर, हमारा वास्तविक ठिकाना है । स्वामीजी का गाया हुआ – 'मन लौट चलो अपने घर' – भजन ठाकुर को बड़ा पसन्द था । अनासक्त होकर संसार में रहते हुए आन्तरिक भाव से उन्हें पुकारने पर उन्हें पाया जा सकता है ।

इसके बाद ठाकुर अधर के घर में प्रतिमा-दर्शन करने जाएँगे । जब वे जाने के लिए उठ खड़े हुए तो ब्राह्म भक्तों ने उन्हें नमस्कार किया । ठाकुर ने भी उन्हें प्रतिनमस्कार किया । ठाकुर कितने उदार-भावापन्न थे, सबके साथ उनकी कैसी मित्रता थी – यह ब्राह्मभक्तों के साथ उनके सप्रेम व्यवहार के माध्यम से विशेष प्रस्फुटित हो उठा है ।

□(क्रमशः)□
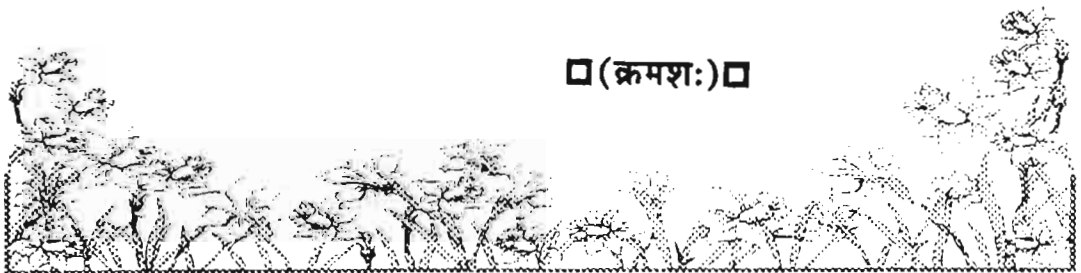
जीवन का सदुपयोग

स्वामी सत्यरूपानन्द

हम प्रायः सुनते हैं कि जीवन क्षणभंगुर है। चार दिन की चाँदनी है। तो क्या जीवन सचमुच क्षणभंगुर है? अनित्य है? यदि ऐसा है तो फिर इस क्षणभंगुर और अनित्य जीवन का क्या महत्व है? क्या यह व्यर्थ और निरर्थक है?

यदि ऐसा है तो फिर गीता की इस घोषणा का क्या अर्थ है कि देही नित्य है, अवध्य है। उपनिषद कहते हैं – अमृतस्य पुत्राः – तुम अमृत के पुत्र हो। जीवन का स्रोत तो अमृत है, शाश्वत है, नित्य है, उससे उत्पन्न होनेवाला जीवन भला कैसे क्षणभंगुर और अनित्य हो सकता है? अतः अमरता, शाश्वतता, नित्यता यही जीवन के पर्याय हैं। यही जीवन का अर्थ है। अमरत्व की अनुभूति ही तो सच्चा जीवन है। उसी में तो जीवन की सार्थकता है।

तब इस क्षणभंगुर और अनित्य का क्या तात्पर्य है? जीवन-तत्त्व अनित्य और क्षणभंगुर नहीं है। क्षणभंगुर तो यह देह है। देह के सम्पर्क में आनेवाला यह संसार है। देह अनित्य है, देही नहीं। संसार अनित्य है किन्तु संसार को धारण करनेवाला तत्त्व परमात्मा अनित्य नहीं। देह और संसार से ऊपर उठकर जिस तत्त्व का अनुभव होता है, वही शुद्ध जीवन-तत्त्व है। उसकी अनुभूति ही तो जीवन है। उसे जानकर ही तो व्यक्ति स्वयं शाश्वत और अनन्त हो जाता है, अमृत स्वरूप हो जाता है।

तब फिर यह क्षणभंगुर देह और यह अनित्य संसार क्या है ? ये संसार, ये देह उसी अमृतत्व को प्राप्त करने के साधन हैं। ससीम से असीम में पहुँचने के सोपान हैं। अतः ये हेय नहीं हैं। इनका भी अपना महत्व है, मूल्य है, उपयोग है। अतः इन्हें तुच्छ और हेय समझकर इनसे घृणा न करें। व्यर्थ समझकर इनकी अवहेलना या उपेक्षा न करें। दूसरी ओर इन्हें सत्य और शाश्वत समझकर इनमें ही उलझ न जाएँ, डूब न जाएँ। किन्तु इनका सदुपयोग कर गन्तव्य पर पहुँचा देनेवाले वाहन के समान 'आत्मबोध' के चरम लक्ष्य पर पहुँच कर इन्हें छोड़ दें। किन्तु जब तक लक्ष्य पर पहुँच नहीं पाए हैं, तब तक वाहन की उचित एवं आवश्यक देखभाल अवश्य करें। इस उपाय द्वारा ही नित्य और अनित्य समन्वय होगा, सहयोग होगा और तभी हमारा जीवन सार्थक होगा।

जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण हमारे जीवन के सभी भेदभावों को मिटा देता है। और तब जाति, धर्म, रंग, देश, प्रान्त आदि भेद – समुद्र में मिलनेवाली विभिन्न नदियों के समान दिव्य जीवन में मिलकर एक हो जाते हैं। दिव्य जीवन जीनेवाले व्यक्ति के लिए संसार में कोई पराया नहीं रह जाता। उसके लिए सम्पूर्ण विश्व एक नीड़ हो जाता है तथा ऐसा व्यक्ति स्वयं विश्व-मानव हो जाता है। ☐

मानस-रोग (३५/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके पैंतीसवें प्रवचन का पूवार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। – सं०)

हर्ष-विषाद पर चर्चा चल रही थी। इनकी तुलना शरीर में होने वाले गले के रोगों से की गई है। जब गले के भीतर गाँठें पड़ जाती हैं, तो उसे कण्ठमाला कहते हैं और कभी कभी व्यक्ति का गला बाहर की ओर फूल जाता है, तो उसे लोक-व्यवहार की भाषा में घेंघा कहते हैं। कागभुशुण्डिजी कहते हैं कि इसी तरह यह हर्ष और विषाद भी कण्ठमाला और घेंघा की तरह मन के दो रोग हैं। इनके लक्षणों पर चर्चा हो चुकी है और अब इनकी चिकित्सा-पद्धति पर चर्चा होगी। हर्ष और विषाद की समस्या अन्य मानसिक रोगों की अपेक्षा अधिक जटिल है, परन्तु अगर हम इस हर्ष और विषाद की समस्याओं पर सत्संग के माध्यम से विचार करें और इनके सन्दर्भ में अपनी वृत्तियों का परिष्कार करें, तो धीरे धीरे हम इन वृत्तियों का सदुपयोग करते हुए इनसे मुक्त हो जाएँगे, यही जीवन की सार्थकता है।

साधारणतया व्यक्ति के जीवन में हर्ष और विषाद का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह रावण के चरित्र में दिखाई देता है और कभी कभी तो व्यक्ति के जीवन में इसका इतना घृणित रूप दिखाई देता है कि समझ में नहीं आता कि उस व्यक्ति को किस दृष्टि से देखा जाय। हर्ष और विषाद का सबसे अधिक दुरुपयोग तब होता है जब मनुष्य के मन में ऐसी दुष्टता की वृत्ति आ जाय कि वह दूसरों को विपत्ति में, संकट में देखकर हर्षित हो और दूसरे व्यक्ति का सुख, उसकी सफलता देखकर विषादग्रस्त हो जाय। यह भी हर्ष-विषाद का एक रूप है, फिर भी साधारणतः यह एक विषयी व्यक्ति का लक्षण नहीं है, यह तो घोर पामर जीव का लक्षण है। गोस्वामीजी कहते हैं –

काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई।
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती।। ७/४०/२-३

कुछ लोग दूसरों की विपत्ति देखकर इतने आनन्दित होते हैं कि वे बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाकर भी यह चेष्टा करते हैं कि सामनेवाला व्यक्ति सकट में पड़ जाय। इसके लिए मक्खी का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। मक्खी जब घी में गिरती है तो वह घी का रस तो पी नहीं पाती, परन्तु घी में गिरकर मर जाती है और उसे अशुद्ध कर देती है। किसी ने मक्खी से पूछा कि तुम्हें घी तो पीना नहीं है, उल्टे घी में पड़कर मर जाती हो; क्यों अपने शरीर का ऐसा दुरुपयोग करती हो? मक्खी ने कहा – कोई बात नहीं है, मेरा शरीर नष्ट होता है तो क्या हुआ! घी तो अशुद्ध हो जाता है न! अगर हमारे घी में गिरकर मरने से घी अशुद्ध होता है, तो हम अपना

नाश करके भी उसे बरबाद करेंगे। ऐसे दुष्ट प्रकृति के लोग भी होते हैं, जिनके हर्ष और विषाद की वृत्ति अत्यन्त भयावह रूप में आती है और वे अकारण ही दूसरों को संकट और विपत्ति की आग में झोंककर हर्ष का अनुभव करते हैं। दूसरी ओर किसी की खुशी या सफलता देखकर मानो उन्हें सन्निपात हो जाता है। हर्ष-विपाद की वृत्ति का यह सबसे अधम रूप है। यद्यपि रामायण में ऐसे पात्र भी दिखाई देते हैं, पर गोस्वामीजी जब जीवों का वर्गीकरण करते है, तो उनका उल्लेख नहीं करते। इसमें व्यंग्य मानो यह है कि वे ऐसे जीव को मनुष्य ही नहीं मानते। भागवत में जीव के चार प्रकार बताए गये हैं – पामर, विपयी, साधक और सिद्ध। परन्तु 'मानस' में गोस्वामीजी ने जीव के तीन प्रकार ही बताये –

बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने।। २/२७७/३

वैसे तो गोस्वामीजी पामर जीव का भी चरित्र प्रस्तुत करते हैं, पर जीव के तीन भेद करने में उनका व्यंग्य यह है कि यह पामर तो बिल्कुल जड़ ही है, उसे जीव कहना निरर्थक है। पामर के प्रति उनके मन में इतना आक्रोश है कि उसे तो वे मृत अथवा जड़ की श्रेणी का मानते हैं, जीव की श्रेणी में उनकी गणना तक नहीं करते।

विषयी का हर्ष और विषाद वैसा ही है, जैसा रावण के जीवन में मन्दोदरी को पाकर हर्ष और अक्षय को खोकर विषाद होता है। अब साधक के जीवन पर विचार करके देखें कि क्या उसके जीवन में भी हर्ष-विषाद होता है? साधक भी हर्ष-विषाद से मुक्त नहीं होता, पर उसके जीवन में इनका सदुपयोग है। विषयी व्यक्ति का हर्ष-विषाद मन से जुड़ा रहता है, परन्तु साधक की वृत्तियाँ मन से ऊपर उठकर बुद्धि में प्रविष्ट हो चुकी हैं। ऐसी स्थिति में ये हर्ष-विषाद की वृत्तियाँ साधक में होते हुए भी वह मन से न होकर बुद्धि से होती हैं और साधक उसे विषयी से भिन्न दिशा में प्रयोग करता है। हर्ष-विषाद की वृत्तियों का कल्याणकारी सदुपयोग क्या है? उनकी सार्थकता कहाँ है? गोस्वामीजी कहते हैं कि मन तो केवल विपय को ग्रहण करता है और हर्ष-विषाद का भोग करता है, परन्तु उसमें निर्णय करने की क्षमता नहीं होती कि किस विषय को ग्रहण करें और किसे नहीं। यह क्षमता बुद्धि में है। बुद्धि से विचार होता है, विवेक होता है। अतः इन वृत्तियों को मन से उठाकर बुद्धिगत करना ही उसे कल्याण की दिशा में मोड़ना है। विषयी में विवेक नहीं होता, वह विचार नहीं करता, परन्तु साधक विचार करता है। इस हर्ष-विषाद की वृत्ति को कहाँ लगाना चाहिए? क्षणभंगुर वस्तु को पाकर हर्ष होगा, तो वह हर्ष भी क्षणभंगुर होगा और नाशवान वस्तु के नाश होने पर विषाद होगा, तो वह विषाद भी हमें विनाश की ओर ले जायगा। साधक इस पर विचार करके अपने इस हर्ष-विषाद की वृत्तियों को विवेकपूर्वक ऐसी वस्तु से जोड़ने की चेष्टा करता है, जहाँ वे सार्थक हो जाती हैं।

हर्ष की सार्थकता कहाँ है? दोहावली में गोस्वामीजी कहते हैं – भगवान का स्मरण करते हुए, आदर्श के लिए युद्ध करते हुए, दान देते हुए और गुरु को प्रणाम करते हुए जिस व्यक्ति के हृदय में हर्ष नहीं होता, उसका जीवन धूल और मिट्टी में मिला देने योग्य है –

रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पायँ।
तुलसी जिन्हहि न पुलक तनु ते जग जीवत जायँ।। ४२

इसलिए संकेत आता है कि महर्षि विश्वामित्र जब महाराज दशरथ के पास आए तो महाराज दशरथ बड़े प्रसन्न हुए, उनका स्वागत किया, पूजन किया, भोजन निवेदित किया और तब बड़े उत्साह और प्रसन्नता से पूछा –

केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करते न लावउँ बारा॥ १/२०७/८

– आपके आने का कारण क्या है, आज्ञा दीजिए; आपके कहने में देर है, मेरे करने में देर नहीं होगी। विश्वामित्र उनके इस दावे को सुनकर मन ही मन हँसे। वे समझ रहे थे कि दशरथ जितने उत्साह के साथ ऐसा कह रहे हैं, मेरी माँग सुनने के बाद भी उतना उत्साह रहेगा, इसमें सन्देह है। उन्होंने अपनी माँग दशरथजी के सामने रख दी। कहा –

अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा॥ १/२०७/१०

– 'आप लक्ष्मण के साथ राम को दीजिए; इनके द्वारा राक्षसों का वध होगा और इन दोनों को पाकर मैं सनाथ हो जाऊँगा।' बस, इतना सुनते ही महाराज दशरथ के चेहरे का रंग उड़ गया। मुख पर पीलापन तथा घबराहट छा गई। तब विश्वामित्र ने मुस्कराकर दशरथजी से कहा – 'देहु' – 'दो'। लेकिन एक शब्द जोड़ दिया। इसमें बड़ी चुनौती भी है, कहते हैं, लेने आया हूँ तो बिना लिए तो मैं लौटूँगा नहीं। मैं कोई ऐसा माँगनेवाला नहीं हूँ कि 'नहीं' कह देने पर लौट जाऊँ। जो माँग रहा हूँ, उसे लेकर ही रहूँगा और तुम्हें देना ही पड़ेगा। लेकिन अब तुम्हें निर्णय करना है कि तुम किस तरह दोगे – प्रसन्नतापूर्वक या दुखपूर्वक। मेरी तो सलाह है कि तुम ऐसा करो जिसमें सबको लाभ हो – देनेवाले को भी, लेनेवाले को भी और बीचवाले को भी। इसलिए उन्होंने 'देहु भूप' के साथ यह बात भी जोड़ दी – 'मन हरषित'। हर्ष का सदुपयोग क्या है? लेने में तो सबको हर्ष होता है, परन्तु जब देने में भी हर्ष हो, तो इसका अर्थ यह हुआ कि अब उसने साधक-जीवन में प्रवेश किया है। अब पाकर नहीं, कुछ देकर, कुछ त्यागकर, कुछ दान करके उसके अन्तःकरण में प्रसन्नता होती है। इसीलिए विश्वामित्र ने कहा – 'देहु भूप मन हरषित' – प्रसन्न मन से दो। और साथ ही यह भी जोड़ दिया – 'तजहु मोह अग्यान'। यदि हर्षपूर्वक नहीं दोगे, तो भय के कारण बाध्य होकर दोगे। इसका अभिप्राय यह है कि तुम्हारे अन्तःकरण में आसक्ति है और तुम मोहग्रस्त हो। साथ ही तुम राम और लक्ष्मण की महिमा से परिचित नहीं हो। तुम्हारे मन में अगर यह भय समा गया है कि इतने छोटे राजकुमारों के द्वारा राक्षसों का वध कैसे होगा, तो यह तुम्हारा अज्ञान है। यदि तुम्हारे मन में मोह और अज्ञान नहीं है, तो तुम्हारे अन्तःकरण में कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

दान की व्याख्या करते हुए विश्वामित्रजी ने कहा कि कई बार ऐसा होता है कि न तो देनेवाले को लाभ होता हैं, न लेनेवाले को। जब देनेवाले के मन में अहंकार आ जाय या दुःख-पीड़ा हो, तो देकर भी वह देने का आनन्द नहीं पाता। इसी तरह यदि लेनेवाले व्यक्ति के मन में दीनता-हीनता की वृत्ति आ जाय, तो वह भी पाने का आनन्द नहीं पाता। कई बार देखने में आता है कि माँगते माँगते व्यक्ति के हृदय में इतनी दीनता आ जाती है कि उसके पास धन एकत्र हो जाने पर भी उसके मन की दीनता दूर नहीं होती। विश्वामित्र ने कहा कि लेने में मेरा लाभ तो यह है कि राम-लक्ष्मण द्वारा राक्षसों का वध हो जाने पर मैं

सनाथ हो जाऊँगा परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हें केवल देना ही देना है। तुमको भी मिलेगा। – क्या? – तुम चिन्ता मत करो, तुम्हें भी दो वस्तुएँ मिलेंगी। मोह और अज्ञान को छोड़ देने पर तुम्हें धर्म और सुयश की प्राप्ति होगी। इसके साथ ही उन्होंने दशरथजी को प्रलोभन भी दिया। बोले – तुम कह सकते हो कि महाराज, हमें तो सुयश मिल जाएगा, आप सनाथ हो जाएँगे, परन्तु हमारे इन सुकुमार पुत्रों को तो कष्ट ही मिलेगा न! परन्तु ऐसा नहीं होगा, तुम चिन्ता न करो – इनका भी महान कल्याण होगा –

देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अग्यान।
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान॥ १/२०७

एक बार एक सज्जन बोले कि विश्वामित्रजी ने यह कैसी अटपटी बात कह दी – ईश्वर का कल्याण, यह कैसा दावा है? राम तो साक्षात परब्रह्म परमात्मा हैं। इसका अभिप्राय क्या है? यहाँ एक मधुर संकेत है। विश्वामित्र और वशिष्ठ में जो आदान-प्रदान है, वह बड़ा अनोखा है। इन दोनों महात्माओं के सन्दर्भ में आप जानते हैं कि इनके बीच कामधेनु को लेकर संघर्ष हुआ। विश्वामित्र ने कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को माँगा और वशिष्ठ ने 'नहीं' कह दिया था, परन्तु आज जब वे ईश्वर को, अखण्ड-ज्ञान-घन श्रीराम को माँगने आए हैं, तो वशिष्ठ ने विश्वामित्र की इस याचना की परिपूर्ति में सहयोग देते हुए दशरथजी को देने के लिए प्रेरित किया। इसलिए विश्वामित्र कृतज्ञ हैं कि वशिष्ठ की कृपा से उन्हें राम-लक्ष्मण मिल गये, साक्षात् भगवान की प्राप्ति हुई। परन्तु विश्वामित्र का मधुर संकेत क्या है? इस यात्रा में इन्हें मिलनेवाली वस्तु कोई साधारण नहीं है। और सचमुच विश्वामित्र के कारण वशिष्ठ को जो गुरुदक्षिणा मिली, दशरथ को जो उपलब्धि हुई और यहाँ तक कि श्रीराम के जीवन में भी जो प्राप्ति हुई, उसे उस सन्दर्भ में देखें कि इसी यात्रा से भगवान श्री राघवेन्द्र सीताजी को लेकर लौटते हैं।

इन दोनों महात्माओं में इतना मतभेद तथा कटुता थी कि विश्वामित्र अयोध्या जाने में हिचकते थे और वशिष्ठ भूलकर भी जनकपुर नहीं जाते थे। क्योंकि पूर्व काल में जनकपुर के राजा निमि थे, जिनसे वशिष्ठ का बड़ा संघर्ष हो चुका था। ऐसी पौराणिक गाथा आती है कि निमि भी वशिष्ठ के ही यजमान थे। एक बार जब निमि ने वशिष्ठ से कहा कि मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, तो उस समय वशिष्ठ किसी अन्य का निमंत्रण स्वीकार कर चुके थे। वशिष्ठ ने कहा कि उस यज्ञ को पूरा कराने के बाद तुम्हारा यज्ञ करा दूँगा। यह कहकर जब वशिष्ठ चले गये तो निमि के मन में रजोगुण का उदय हुआ और उसने सोचा कि अधिक दक्षिणा देनेवाला कोई बड़ा यजमान मिल गया होगा, इसलिए मुझे छोड़कर चले गये। क्या मैं कोई दूसरा आचार्य नहीं खोज सकता? मैं दूसरा आचार्य बना लूँगा। और वे दूसरे आचार्य के आचार्यत्व में यज्ञ करने लगे। वशिष्ठ जब वापस आए और देखा कि दूसरे आचार्य के अधीन यज्ञ हो रहा है, तो उनके अन्तःकरण में रोष उत्पन्न हुआ और उन्होंने निमि से कहा कि जब मैंने तुम्हें वचन दिया था कि मैं लौटकर यज्ञ कराऊँगा, तो तुमने मेरी अनुपस्थिति में यज्ञ का आचार्यत्व दूसरे को क्यों सौंप दिया? इसके उत्तर में निमि ने यह तो नहीं कहा कि मुझे आघात लगा, बल्कि उसने बड़े ज्ञान की बात कही। निमि ने कहा –

महाराज, आप ही तो बार बार उपदेश दिया करते हैं कि शुभ-कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए और आप स्वयं टाल रहे थे। ऐसी परिस्थिति में मैंने तो ठीक ही किया, जो यज्ञ को तत्काल प्रारम्भ कर दिया। वशिष्ठ ने खिन्न भाव से कहा – मैंने तुम्हें वचन दिया था कि लौटकर यज्ञ कराऊँगा, तो तुम्हारे मन में गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास होना चाहिए था कि हमारे गुरुदेव सत्यसंकल्प हैं, जब तक उनका संकल्प पूर्ण नहीं होगा, मेरी मृत्यु भी नहीं हो सकती; परन्तु लगता है कि तुम्हारे अन्तःकरण में गुरु की वाणी के प्रति सन्देह था, इसलिए तुमने ऐसा किया। इस विवाद की चरम परिणति यह हुई कि दोनों ने एक-दूसरे को श्राप दे दिया और वशिष्ठ निमिकुल का पौरोहित्य छोड़कर चले गये। आगे चलकर एक लम्बे अन्तराल के बाद इन दोनों महात्माओं – वशिष्ठ और विश्वामित्र का बड़ा हार्दिक और भावपूर्ण मिलन हुआ। कब? जब ज्ञान तथा भक्ति का मिलन हुआ। श्रीसीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं, श्रीराम अखण्ड-ज्ञानघन हैं। ज्ञान अधूरा है, भक्ति अधूरी है। जब दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, तब उनमें पूर्णता और समग्रता की अनुभूति होती है। यही हुआ इन दोनों महापुरुषों के जीवन में। वशिष्ठ की कृपा से विश्वामित्र ने अखण्ड-ज्ञानघन श्रीराम को पाया तो वशिष्ठ भी विश्वामित्र की कृपा से साक्षात् भक्तिरूपा सीताजी को पाकर धन्य हो गये। वे पुनः जनक के मण्डप में गये और भगवान राम से सीताजी के मिलन की भूमिका सम्पन्न की। इस प्रकार तपस्या और पुण्य ने जहाँ दो महात्माओं में टकराहट उत्पन्न कर दी थी, वहाँ ज्ञान तथा भक्ति के समुच्चय ने इन दोनों के बीच सामंजस्य की स्थापना कर दी।

ऐसा नहीं कि महाराज दशरथ उदार या दानी नहीं थे, उन्होंने तो विश्वामित्रजी से यही कहा था कि वे धरती, गो, धन या खजाना – कुछ भी माँग लें, वे सहर्ष सर्वस्व दे देंगे, यहाँ तक कि प्राणों से भी प्रिय अपना शरीर भी दे देंगे। परन्तु पुत्रों की माँग पर महाराज दशरथ प्रसन्न नहीं हो पाए। इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने विश्वामित्र की थोड़ी आलोचना भी कर दी। विश्वामित्रजी जिस समय यज्ञ की भूमिका से बोल रहे थे, तब दशरथजी ने उसका उत्तर ममता की भूमिका से दिया। वे बोले – महाराज, वृद्धावस्था में मैंने चार पुत्र पाए; ब्राह्मण देवता, आपने विचार करके नहीं माँगा –

चौथेंपन पायउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥ १/२०८/२

इतना कहने की आवश्यकता नहीं थी। बस, कह देते कि मैं राम को नहीं दे पाऊँगा। परन्तु उनकी बात सुनकर विश्वामित्र को मन-ही-मन हँसी आ गई कि यह तो तुमने बिल्कुल उल्टी बात कही। अरे, वृद्धावस्था में ममता को घटाना है या बढ़ाना है? नियम तो यह है कि व्यक्ति ज्यों ज्यों वृद्ध हो, त्यों त्यों अपने जीवन में ममता को त्यागकर वैराग्य स्वीकार करे। यहाँ मैं तुम्हें ममता से त्याग की ओर ले जाना चाहता हूँ, त्याग-वैराग्य का उपदेश दे रहा हूँ और तुम उसी में अविवेक देख रहे हो; तुम्हारा यह दृष्टिकोण तो बड़ा विचित्र है। विश्वामित्रजी ने दशरथजी के इन शब्दों को पकड़ा – 'पायउँ सुत चारी' – ये पुत्र मुझे बड़े सौभाग्य से मिले हैं। विश्वामित्रजी का तात्पर्य यह था कि वृद्धावस्था में ये चारों पुत्र आपकी क्षमता या पुरुषार्थ से नहीं, बल्कि महर्षि वशिष्ठ की कृपा से प्राप्त हुए हैं।

एक सन्त से आपने अपना अभाव बताया और उन्होंने कृपा करके आशीर्वाद दे दिया

और आपको चार पुत्र प्राप्त हुए। अब आज एक मुनि संकट में पड़कर तुमसे दो पुत्र माँगने आया है, तो तुम्हें आपत्ति हो रही है। व्यक्ति को कम-से-कम मूलधन लौटाने के लिए तो तैयार रहना चाहिए, परन्तु तुम तो आधा भी लौटाने को प्रस्तुत नहीं हो। सन्त ने तुम्हें चार पुत्र दिए और मैं तो केवल दो पुत्र ही माँगने आया हूँ, इसमें तुम्हें क्या आपत्ति होनी चाहिए? तब भी दशरथजी का समाधान नहीं हो पा रहा था, लेकिन गुरु वशिष्ठ समझ गये। उन्होंने उसी बात को दूसरे ढंग से कहा। वे दशरथ के स्वभाव से परिचित थे, उनकी ममत्व की वृत्ति को समझ रहे थे। उन्होंने सोचा कि अगर लोभी व्यक्ति से दान माँगा जाय, तो देने में वह आनाकानी करता है, परन्तु यदि उससे ब्याज पर रुपये माँगे जायँ, तो वह बड़ी खुशी से दे देता है। वह सोचता है कि रुपये जब लौटेंगे, तो साथ में ब्याज भी मिलेगा। वशिष्ठजी ने महाराज दशरथ से यही कहा कि आप देकर घाटे में नहीं रहेंगे। वे तुम्हारे पुत्रों को सदा के लिए थोड़े ही ले जा रहे हैं। आप निश्चिन्त रहिए, वे कुछ दिन बाद आपके पुत्रों को लेकर वापस आएँगे, तब आप देखेंगे कि आप घाटे में नहीं रहे, ये मूलधन को दुगुना-चौगुना करके लौटा देंगे। वशिष्ठजी के ऐसा कहने पर दशरथजी कुछ आश्वस्त हुए। उनमें लोभ की वृत्ति उत्पन्न हुई और उन्होंने श्रीराम तथा लक्ष्मण को बुलाकर विश्वामित्र को सौंप दिया।

दे तो दिया, परन्तु विश्वामित्रजी ने जो कहा था – 'देहु भूप मन हरषित' – हर्षित होकर दीजिए, इसका अभिप्राय यह है कि दान देने में, गुरु और सन्त की सेवा में, बुराई को मिटाने के लिए संघर्ष करने में हर्ष होना चाहिए। यही हर्ष की सार्थकता है। परन्तु दशरथजी में यह हर्ष की वृत्ति बड़ी कठिनाई से उत्पन्न हुई। परन्तु जब भगवान श्रीराम विश्वामित्र के साथ चले तब क्या उन्हें कहना पड़ा कि राम, हर्षित होकर चलो? गोस्वामीजी ने लिखा – 'हरषि चले मुनि भय हरन' – श्रीराम सहज भाव से हर्षित हैं। यज्ञ की रक्षा के लिए जा रहे हैं, परन्तु साथ में न कवच है, न रथ, न सेना, और न सेनापति। कष्टपूर्ण लम्बी यात्रा! पैदल चले जा रहे हैं। वहाँ भयंकर राक्षसों से युद्ध करना है। गुरु और सन्तों की सेवा में राक्षसों को मिटाने के लिए जा रहे हैं। उसके लिए वे बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाने के लिए प्रस्तुत हैं, परन्तु चलते कैसे हैं? 'हरषि चले'– हर्षित होकर चले। भगवान राम के चरित्र में हर्ष दिखाई देता है और यह वृत्ति प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में दिखाई देती है, परन्तु भेद कहाँ है? श्रीराम के चरित्र में हर्ष की वृत्ति का सदुपयोग है। उनके मन में गुरु और सन्तों की सेवा करते हुए, समाज की सेवा करते हुए हर्ष की अनुभूति होती है। गोस्वामीजी कहते हैं –

पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।। १/२०८

भगवान श्रीराम गुरु की सेवा करने के लिए, क्षात्रधर्म का पालन करते हुए युद्ध करने को जा रहे हैं, तो उन्हें हर्ष की अनुभूति हो रही है। यह है भगवान राम के चरित्र में हर्ष की वृत्ति। यही हर्ष की वृत्ति का सदुपयोग है। इस सन्दर्भ में हम और आगे बढ़ें, तो भगवान राम के जीवन में इससे भी अधिक हर्ष और उसका सर्वोत्कृष्ट रूप कब दिखाई देता है? जब वे अयोध्या के राज्य का परित्याग करके जाने लगे। गोस्वामीजी कहते हैं कि उस समय सारे अयोध्या में शोक का वातावरण छाया हुआ है। श्रीराम को राज्य मिलते मिलते घोषणा कर दी गई कि उन्हें अयोध्या छोड़कर वन जाना होगा। जब हमें किसी वस्तु के

मिलने की आशा बन जाती है और वह वस्तु मिल जाती है, तब तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है, पर आशा के विपरीत यदि वह वस्तु न मिले तो परम दुःख होता है। व्यक्ति यदि पहले से ही आशा न रखे, तो न मिलने पर प्रसन्नता होती है और न नहीं मिलने पर दुःख होता है। भगवान राम के चरित्र में हर्ष का जो सर्वश्रेष्ठ रूप है, वह साधारणतया हमारे-आपके जीवन में नहीं हो सकता। भगवान राम को दिया गया राज्यपद जब छीन लिया गया और उन्हें वन जाने की आज्ञा दे दी गई, तो उनके मन पर इसका क्या प्रभाव पड़ा? सामान्यतः यह व्यक्ति के जीवन में घोर विषाद का क्षण होता है। इसीलिए तो कैकेयी के मन में यह आशंका हुई कि जब मैं राम से कहूँगी कि उसे वन जाना होगा और भरत को राज्य मिलेगा, तो यह सुनकर उसके मुख पर मलिनता आ जाएगी। उनके मुख पर दुख, आक्रोश तथा क्रोध का भाव झलकने लगेगा और सम्भव है वह विद्रोह की भी चेष्टा करे। पर कैकेयी के मन में कहीं-न-कहीं यह दृढ़ आशा थी कि राम के स्वभाव में विद्रोह तथा संघर्ष की प्रवृत्ति नहीं है। इसीलिए जिस समय महाराज दशरथ मूर्छित पड़े हुए थे, तब सुमन्तजी आकर जब कैकेयीजी से पूछते हैं कि महाराज मूर्छित क्यों हैं? तो उन्होंने सुमन्तजी से यही कहा –

आनहु रामहि बेगि बोलाई। समाचार तब पूँछेहु आई॥ २/३९/१

पहले राम को बुलाकर ले आओ, तब पूछना। कैकेयी को भय था कि यदि मैं सुमन्त के सामने अपने दोनों वरदानों के बारे में कह दूँगी, तो प्रधानमंत्री होने के नाते ये आड़ी-तिरछी राजनैतिक बातें करके मेरी बात को पलटने की चेष्टा कर सकते हैं। श्रीराम के विषय में भी उनके मन में यह धारणा तो थी कि इसे सुनकर राम को दुःख तो अवश्य होगा, परन्तु साथ ही उनके मन में कहीं-न-कहीं यह विश्वास भी था कि राम का जो शील-स्वभाव है, उसकी रक्षा के लिए वे मेरी बात को चुपचाप स्वीकार कर लेंगे।

रघुकुलदीपहि चलेउ लेवाई॥ २/३९/७

भगवान श्री राघवेन्द्र जब चले, तो वहाँ पर गोस्वामीजी ने उनके लिए एक नया नाम लिखा – सुमन्तजी रघुकुल के दीपक को लेकर चले। दीपक में जैसे प्रकाश होता है, वैसे ही भगवान राम के मुख पर जो प्रसन्नता दिख रही है, उसी को दृष्टि में रखकर गोस्वामीजी कहते हैं कि वहाँ अँधेरा नहीं, प्रकाश है। उसके पश्चात् जब श्री राघवेन्द्र कैकेयी के पास पहुँचे, तो वहाँ का वातावरण देखकर समझ गये कि लगता है कि राज्याभिषेक की योजना किसी कारणवश स्थगित हो गयी है। और तब उनके मुख पर जैसा भाव था, उसके अनुसार अब उन्हें दीपक कहना उपयुक्त न था। गोस्वामीजी ने भगवान राम का दूसरा नाम लिया। उन्हें मणि की उपाधि देते हुए बोले –

जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाजु॥ २/३९

इसमें चतुराई क्या है? दीपक में प्रकाश तो है, परन्तु वह तेलवाला प्रकाश है। तेल अथवा घी न हो, तो दीपक चमक नहीं सकता। ऐसे ही संसार में कई लोग चमक रहे हैं, परन्तु पद का तेल, धन का घी, कुछ-न-कुछ तो मिला ही हुआ है। उसके मुख पर प्रसन्नता देखकर समझ लेना चाहिए कि पीछे किसी-न-किसी पद, सत्ता या ऐश्वर्य का तेल है, उसी से यह प्रकाश हो रहा है। परन्तु मणि को चमक के लिए न तो कोई बत्ती चाहिए, न तेल।

दीपक का प्रकाश वस्तुसापेक्ष है और मणि का प्रकाश निरपेक्ष। आगे चलकर गोस्वामीजी ने भगवान राम का एक और तीसरा नाम लिया, जो बड़ा सुन्दर है। भगवान राम के अनेक नाम हैं परन्तु एक नाम संन्यासियों से मिलता-जुलता है। संन्यासियों के नाम के साथ बहुधा आनन्द शब्द जुड़ा हुआ होता है। यह बड़ा सार्थक है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसके जीवन में आनन्द की समग्र अभिव्यक्ति हो रही है, वही सच्चे अर्थों में संन्यासी है।

श्रीराम ने कैकेयी से पूछा – माँ, पिताजी मुझसे बोल क्यों नहीं रहे हैं? लगता है कि मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है। तब कैकेयी ने बड़ी भूमिका बाँधकर कहा – राम, तुमसे भला कोई अपराध हो सकता है? तुम तो माता-पिता को सुख देनेवाले हो –

तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता ॥ २/४३/३

कैकेयी मानो कहना चाहती है कि यदि तुम इस उपाधि को सत्य प्रमाणित करना चाहते हो, तो इसकी सार्थकता इसी में है कि भरत को राज्य मिले और तुम वन चले जाओ, तभी तो 'माता-पिता के सुखदाता' कहलाओगे। पहले भूमिका बाँधी और तब अपनी बात कही। यह सुनकर भगवान राम के मुख पर कौन-सा भाव प्रगट हुआ? लिखा – 'मन मुसुकाइ'। यहाँ गोस्वामीजी भगवान राम के चरित्र का बड़ा सुन्दर सामंजस्य करते हैं। भगवान मुस्कुराते हैं, परन्तु मन में मुस्कुराते हैं। यह उनकी एक सावधानी है। अभिप्राय क्या है इसका? यह कि ऐसे समय में, विशेषकर जब महाराज दशरथ मूर्छित होकर पड़े हुए हैं, उनके प्राण संकट में हैं, चारों ओर का वातावरण विषाद से ग्रस्त है, आक्रोश से भरा हुआ है, भगवान श्री राघवेन्द्र प्रत्यक्ष रूप से अपने आनन्द को मुस्कान के रूप में प्रकट कर दूसरों को दुःख या चोट नहीं पहुँचाना चाहते। ये ऐसे अवसर हैं, जहाँ यदि व्यक्ति के मन में प्रसन्नता भी हो, तो उसे प्रकट नहीं करना चाहिए। जहाँ हमारी प्रसन्नता देखकर दूसरों के मन में आक्रोश या विषाद उत्पन्न होने की सम्भावना हो, वहाँ अपनी प्रसन्नता को प्रकट कर देना बड़ी नासमझी है। श्रीराम और लक्ष्मणजी में यही तो अन्तर था। परशुरामजी लक्ष्मण पर बहुत बिगड़े और उनका क्रोध बढ़ता ही जा रहा था। क्यों? लक्ष्मणजी की बातों पर उन्हें उतना क्रोध नहीं आया, जितना उनके हँसने पर आया। लक्ष्मणजी उनको देखकर बार बार हँसते थे। वे जितना ही हँसते थे, परशुरामजी का क्रोध उतना ही बढ़ता जाता था –

हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी ॥ १/२७७/६

लक्ष्मण हँस रहे हैं और परशुराम भगवान राम से कह रहे हैं। देखते नहीं? यह बड़ा पापी है। श्रीराम ने पूछा – महाराज, इसमें कौन-से लक्षण देखकर आप इसे पापी कह रहे हैं? बोले – देखते नहीं? यह हँस रहा है। अब हँसना यदि सबसे बड़ा पाप हो, तब तो परशुरामजी ने पाप की यह नई परिभाषा कर दी। परन्तु उनका अभिप्राय यह था कि यह हँस नहीं रहा है, बल्कि मेरी हँसी उड़ा रहा है और इसीलिए यह बड़ा पापी है। परशुरामजी की बातें तो ऐसी थी कि हँसी तो भगवान राम को भी आ रही थी। पर श्रीराम और लक्ष्मणजी में अन्तर है। लक्ष्मणजी अपनी हँसी को व्यक्त कर देते हैं, जिसे देखकर परशुरामजी को क्रोध आ जाता है। हँसी तो श्री राघवेन्द्र को भी आती है। परशुरामजी जब श्रीराम से बोलने लगे, तो उन्हें भी खूब हँसी आई, पर उन्होंने अपनी हँसी होठों तक न आने दी, बल्कि 'मन

मुसुकाइ' – वे मन-ही-मन मुस्कुराकर परशुरामजी से बोले । इसका तात्पर्य था कि हमारे आनन्द से इनको कष्ट न हो । श्रीराम सावधान हैं और यहाँ भी वे अपने मन के आनन्द को प्रगट नहीं करते । जहाँ वातावरण उपयुक्त हो, वहीं आनन्द की अभिव्यक्ति उचित है । प्रतिकूल परिस्थिति में आनन्द भी दु:खदायी हो जाता है ।

भगवान राम कैकैयीजी की बात सुनकर मन-ही-मन मुस्कुरा रहे हैं । गोस्वामीजी ने कहा – तब तो भगवान का नाम फिर बदलना पड़ेगा । पहले दीप कहा, फिर मणि और अब उन्होंने भगवान का तीसरा नाम लिया –

मन मुसुकाइ भानुकुल भानू। रामु सहज आनंद निधानू॥ २/४१/५

कहते हैं – श्रीराम सहजानन्द हैं। सहजानन्द बहुत कम लोग होते हैं। जहाँ पर आनन्द के लिए न तो किसी वस्तु की अपेक्षा है और न किसी परिस्थिति की, उसे सहजानन्द कहते हैं। पर श्रीराम तो सहज आनन्द ही नहीं, सहज आनन्द के निधान हैं। श्रीराम मूर्तिमान सूर्य हैं। दीपक केवल एक घर को प्रकाशित करता है, परन्तु सूर्य तो सारे संसार को प्रकाश देता है, सारे जगत् के अन्धकार को मिटा देता है । श्रीराम केवल अयोध्या के राजा होते, तो अयोध्या का अन्धकार दूर होता, परन्तु जब वे वनवासी हो रहे हैं, तो सारे संसार की समस्या का समाधान होगा। भगवान राम के मन में प्रसन्नता किस बात की हो रही है? जहाँ पर खोने में प्रसन्नता हो, त्याग-तपस्या में प्रसन्नता हो, मन में हर्ष की अनुभूति हो, तो समझ लेना चाहिए कि यही मन की सद्वृत्ति है। इससे बढ़कर हर्ष का और कोई सदुपयोग नहीं। इसीलिए श्रीराम ने वन जाते समय जब औरों को प्रणाम किया तो गम्भीर बने रहे, क्योंकि सबके नेत्रों में आँसू थे, परन्तु यात्रा के पूर्व जब वे गुरु वशिष्ठ को प्रणाम करने लगे तो –

गुर पद पदुम हरषि सिरु नावा। २/८१/१

गुरु वशिष्ठ के चरणों में वे हर्षित होकर प्रणाम करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सारे अयोध्यावासी दुखी हैं; केवल दो ही व्यक्ति दुखी नहीं हैं – एक तो गुरु वशिष्ठ और दूसरे श्रीराम । गुरु वशिष्ठ भविष्य को देख रहे हैं कि कैसे रावण का वध होगा, अत्याचार-अन्याय बन्द होंगे और विश्व का मंगल होगा। और भगवान राम? गोस्वामीजी ने कहा –

भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सुबिहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचनु भयंकरु बाजु॥ २/२८

– महाराज दशरथ का मनोरथ सुन्दर वन है। सुख सुन्दर पक्षियों का समुदाय है। उस पर भीलनी की तरह कैकेयी अपने वचन रूपी भयकर बाज छोड़ना चाहती है। भगवान राम को कैकेयी की यह भयंकर वाणी कैसी लग रही है? जैसै –

मगध गयादिक तीरथ जैसे। २/४३/७

हमारे यहाँ कुछ भूखण्ड ऐसे हैं, जिन्हें पवित्र नहीं माना जाता, मगध भी उन्हीं में से एक है। पुरानी शास्त्र-परम्परा के लोग मगध को पवित्र भूमि नहीं मानते। कहते हैं कि यदि कोई मगध जाय, तो लौटकर वह पुनः संस्कार करे, गंगास्नान करे, तब जाकर पूरी तरह से पाप का निराकरण होता है। गोस्वामीजी ने बड़ी मधुर बात कही। बोले – कैकेयी का मुख मानो साक्षात् मगध प्रदेश बन गया है। अब मगध प्रदेश में तो नहीं जाना चाहिए। ऐसी

स्थिति में श्रीराम को कैकेयी की बात क्यों अच्छी लगी? इसलिए कि हमारे यहाँ शास्त्र में पिण्डदान की प्रक्रिया है। सभी लोग जानते हैं कि पितरों के प्रति जो श्राद्ध किया जाता है, उनमें गया में किया गया श्राद्ध सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। यह गया मगध प्रदेश में ही है। मगध स्वयं अपवित्र है परन्तु गया इतना पवित्र है कि जब तक कोई वहाँ जाकर श्राद्ध न करे, तब तक पुत्र के पुत्रत्व की कोई सार्थकता नहीं है। शास्त्रों में जहाँ पुत्र की व्याख्या की गयी है – 'तया पुत्रस्य पुत्रता'– जो तीन कार्य पुत्र को करने चाहिए, उसमें मुख्य है –'गयायां पिण्डदानश्च'– पुत्र की पुत्रता इसी में है कि वह गया में अपने पिता को पिण्डदान अवश्य करे। यहाँ भगवान को लगा कि कैकेयी का मुख भले ही मगध हो, परन्तु उसके मुख से जो वाक्य निकल रहे हैं, वे तो गया के पिण्डदान के समान है। गोस्वामीजी ने कहा –

लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगहँ गयादिक तीरथ जैसे॥ २/४३/७

इसका अभिप्राय क्या है? गया में पिता का श्राद्ध किया जाता है और यहाँ भगवान राम को पिता के वचन की रक्षा करनी है। श्राद्ध का अर्थ केवल पिण्डदान कर देना नहीं है। श्राद्ध को इतना महत्व क्यों देते हैं? किसी के प्रति हम तभी तक श्रद्धावान रहते हैं, जब तक हमारा स्वार्थ पूरा नहीं हो जाता और स्वार्थ सिद्ध होते ही उसके प्रति हमारी श्रद्धा समाप्त हो जाती है, याद भी नहीं करते। श्राद्ध की परम्परा का अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार के स्वार्थपूर्ति की आशा जहाँ न हो, तो भी श्रद्धा हो। यह श्राद्ध व्यक्ति के मरणोपरान्त उसके पुत्र के द्वारा किया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति अब नहीं रह गया तथा जिससे अब हमारा कोई स्वार्थ नहीं है, उसके प्रति श्रद्धापूर्वक उसके कल्याण हेतु श्राद्ध की क्रिया की जाती है। यही सच्चा श्राद्ध है। पर श्राद्ध का तात्पर्य केवल इतना ही तो नहीं है कि यह कार्य मरने के बाद ही किया जाय। कबीर ने तो व्यंग्य किया है। कोई पिता का अस्थि लेकर गगाजी जा रहे थे। कबीर ने सुना तो कहा – अच्छा! उसे तो मैं जानता हूँ, बोले –

जियत बाप सो दंगम-दंगा। मरे हाड़ पहुँचावै गंगा॥

जब तक बाप जीवित रहा तब तक तो झगड़ा करते रहे और अब बाप मर गया, तो उसकी हड्डी लेकर गंगा में डालने जा रहे हैं। तो भाई, इसका अर्थ यह नहीं है कि 'गयायां पिण्डदानश्च'– सुपुत्र को गया में पिण्डदान करना है, तो पिता के मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे। पिता के प्रति सच्ची श्रद्धा उनके जीवनकाल में और मृत्यु के बाद भी होनी चाहिए। श्री राघवेन्द्र को यह लगा कि माँ ने मुझे यह अवसर दिया है कि जैसे गया में पिण्डदान करते हैं, उसी तरह पिता के वचन की रक्षा करने के लिए, पितृऋण से उऋण होने हेतु मैं श्रद्धापूर्वक जीवनदान करूँ। ऐसे सुन्दर अवसर प्रदान करने के कारण माँ का वचन मानो शुभ और मंगलप्रद गया तीर्थ बन गया है।

□(क्रमशः)□
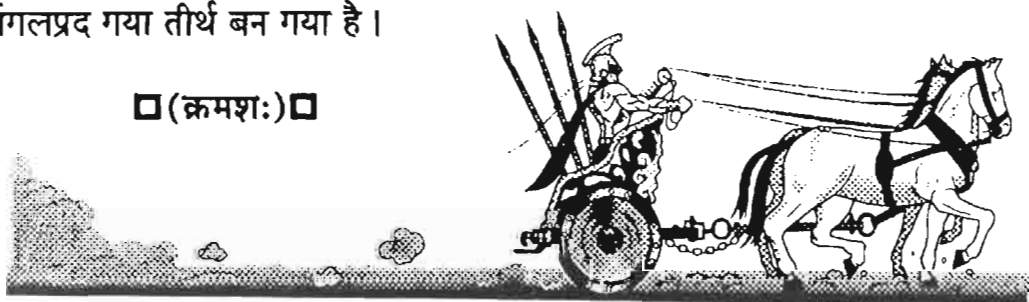
माँ के सान्निध्य में (५२)

सुरेन्द्रनाथ सरकार

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदादेवी के प्रेरणादायी उपदेशों का मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद अनेक वर्षों से विवेक-ज्योति में प्रकाशित हो रहे हैं। इस बीच अब तक प्रकाशित अंश 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत है उसी के प्रथम भाग से आगे के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद। – सं.)

१९१० ई. के दिसम्बर में बड़े दिन की छुट्टियों के समय मैंने उड़ीसा के कोठार[१] में पहली बार श्रीमाँ का दर्शन किया। शिलांग से हेमन्त मित्र तथा वीरेन्द्र मजुमदार नामक दो अन्य भक्त भी मेरे साथ गये थे। उन दिनों कोठार में रामकृष्ण बाबू, स्वामी धीरानन्द जी, स्वामी अचलानन्द जी, स्वामी आत्मानन्द जी और श्री नाग महाशय के भक्त श्रीयुत हरप्रसन्न मजुमदार आदि उपस्थित थे। साथ में थोड़े-से फल, मधु आदि लेकर हम लोग लगभग एक बजे पहुँचे थे। रामकृष्ण बाबू ने ये चीजें माँ के पास पहुँचा दीं। स्नान के बाद हमें भोजन के लिए बुलाया गया। इसी बीच उपस्थित संन्यासीगण आपस में चर्चा करने लगे, "जब इतनी दूर से आया है, तो माँ के दर्शन की अनुमति देनी ही होगी, परन्तु ज्यादा बातचीत करने की सुविधा नहीं होगी।" वीरेन बाबू ने सुनकर यह बात मुझे बतायी। मैंने उनसे कहा, "माँ की जैसी इच्छा, वैसा ही होगा। डरने की क्या बात है?" सभी भोजन करने चले गये। मैंने रामकृष्ण बाबू से कहा, "माँ का दर्शन किये बिना हम कुछ खायेंगे नहीं।" रामकृष्ण बाबू ने यह बात श्रीमाँ को सूचित कर दी और हमारे लिए दर्शन की अनुमति ले आये। मकान में प्रवेश करके मैंने देखा कि माँ अपने को चादर से ढँककर घूँघट खींचे बरामदे में बैठी हुई हैं। समीप जाते ही गोलाप-माँ ने कहा, "बच्चा है माँ, बच्चा है; कहाँ शिलांग और कहाँ कोठार! तुम्हें देखने के लिए सात समुद्र तेरह नदियाँ पार करके आया है!" यह सुनते ही माँ ने अपना घूँघट खींचकर सिर के ऊपर उठा लिया, जिससे माँ की श्रीमूर्ति भलीभाँति देखने की सुविधा हो गयी। उस दिन के बाद से माँ ने कभी मुझे देखकर घूँघट नहीं निकाला। साष्टांग प्रणाम करते हुए मैंने मन-ही-मन 'शरणागत, शरणागत' कहा। माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीष दिया, "भक्तिलाभ हो।"

मैं – माँ, यहाँ दो-एक दिन रहने की इच्छा है। बड़े आदमियों का मकान है, तुम्हारा दर्शन करना बड़ा कठिन है।

माँ – मैं तुम लोगों को बुलवा लूँगी। इस समय खा-पीकर आराम करो।

हम लोगों ने भोजन के बाद विश्राम किया। अपराह्न के समय गोलाप-माँ एक कटोरी में माँ की प्रसादी खीर दे गयीं और कहा, "माँ ने तुम लोगों के लिए यह खीर दिया है।

थोड़ी देर बाद एक सज्जन आकर बोले, "माँ ने आप लोगों को बुलाया है।" हमें उनका दुबारा दर्शन करने को मिला। प्रणाम के उपरान्त मैंने माँ से कहा, "माँ, तुमसे दो-

१. कोठार में श्रीरामकृष्ण के भक्त बलराम बोस की जमींदारी थी। जलवायु-परिवर्तन हेतु माँ को कुछ दिनों के लिए वहाँ ले जाया गया था। बाद में वहीं से वे मद्रास, बंगलोर, रामेश्वर आदि की यात्रा पर गयीं थीं।

एक बातें कहनी है, उन्हें सबके सामने कहने की इच्छा नहीं होती ।"

माँ ने कहा, "ठीक हैं ।" जो सज्जन हमें बुलाकर ले गये थे, उनसे बोलीं, "तुम जरा यहाँ से जाओ ।" वे माँ के निर्देशानुसार बाहर चले गये ।

इसके पहले मैंने स्वप्न में श्रीरामकृष्ण तथा श्रीमाँ का दर्शन आदि किया था – वही सब बातें मैंने कहीं । माँ वे सारी बातें सुनकर बोलीं, "तुमने ठीक देखा है ।" माँ ने अन्य दो भक्तों के बारे में पूछा, "उनकी क्या इच्छा है?"

मैंने कहा, "माँ, ये लोग तुम्हारे पास दीक्षा पाने आये हैं, अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो!

माँ – ठीक है, कल सबेरे स्नान करके आना ।

मैं – माँ, ठाकुर ने तुम्हारे पादपद्मों की पूजा की थी, हमारी भी पुष्पांजलि देकर तुम्हारे पादपद्मों का पूजन करने की इच्छा है ।

माँ – ठीक है, ऐसा ही होगा ।

मैं – फूल कहाँ मिलेंगे?

माँ – ये लोग व्यवस्था कर देंगे ।

हम लोग प्रणाम करके मकान से बाहर चले आये ।

माँ ने मुझसे पूछा था, "इन लोगों की क्या इच्छा है?" परन्तु उन्होंने मेरे अपने विषय में कोई बात नहीं की थी । माँ के पास से बाहर आ जाने के बाद मेरे मन में थोड़ी चिन्ता हुई, मैंने सोचा – माँ की जैसी इच्छा होगी, वही होगा, मैं स्वयं कुछ नहीं कहूँगा ।

अगले दिन हम लोग स्नान करके पुष्प आदि के साथ तैयार हो गये । आदेश मिला, "एक एक करके आओ ।" सर्वप्रथम मैं ही गया । लगा कि वे पूजा आदि समाप्त करके बैठी हैं । मेरे प्रविष्ट होने पर वे बोलीं, "ठाकुर ने तुम्हें जो दिया है, उसे तुम करना । मैं भी तुम्हें कुछ दे रही हूँ ।" यह कहकर उन्होंने महामंत्र दिया ।

इसके बाद मैंने श्रीपादपद्म की पूजा की । पूजा ग्रहण करने के लिए माँ खड़ी हो गयीं । मैंने कहा, "माँ, मैं तो मंत्र-तंत्र आदि कुछ नहीं जानता ।" माँ ने कहा, "ऐसे ही दो ।" मैंने 'जय माँ' कहकर पादपद्मों में पुष्पांजलि दी । पुष्पों में एक धतूरे का फूल भी था । माँ ने कहा, "उसे मत देना, वह शिव के पूजन में लगता है ।"

माँ के लिए मैं एक वस्त्र ले गया था । मैंने वह वस्त्र तथा एक रुपया दिया । रुपया देखकर माँ बोलीं, "तुम्हें तो अभाव है, रुपया क्यों देते हो?" मेरे सांसारिक अभाव के बारे में उनसे कोई बात ही नहीं हुई थी, तथापि मैंने देखा कि उन्हें सब मालूम है । मैंने कहा, "ये तो तुम्हारे ही रुपये तुमको दिये जा रहे हैं; हमारे परिश्रम से जो कुछ भी आता है, उसका यदि थोड़ा-सा अंश भी तुम्हारी सेवा में लगे, तो हम अपने को धन्य मानते हैं ।"

माँ ने कहा, "अहा, क्या लगाव(आकर्षण) है जी, क्या लगाव है ।"

मैं – माँ, भक्तगण तुम्हें साक्षात् काली, आद्याशक्ति, भगवती आदि कहते हैं । गीता में है कि असित, देवल, व्यास आदि मुनियों ने श्रीकृष्ण को साक्षात् नारायण कहा था; उन्होंने स्वयं भी यह बात अर्जुन से कही थी ।[२] यह 'स्वयं' कहने के कारण इस बात को और भी

२. आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा । असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ (गीता, १०/१३)

बल मिला है। तुम्हारे विषय में जो कुछ मैंने सुना है, उन पर मेरा विश्वास है। तो भी, तुम यदि स्वयं कह दो, तो फिर कोई भी सन्देह नहीं रहेगा। मैं तुम्हारे अपने मुख से सुनना चाहता हूँ कि यह बात सत्य है या नहीं।

माँ – हाँ, सत्य है।

इसके बाद भविष्य में कभी भी मैंने माँ के स्वरूप के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया।

मैंने कहा, "माँ, जैसे तुम्हें प्रत्यक्ष देखता हूँ, बातचीत करता हूँ, मैं चाहता हूँ कि वैसे ही इष्ट का दर्शन, स्पर्श तथा उनके साथ बातचीत कर सकूँ – इसके लिए आशीर्वाद दो।

माँ – हाँ, ऐसा ही होगा।

इसके अगले दिन विदा लेने के समय श्रीमाँ को प्रणाम करके उठने के बाद मैंने उन्हें अत्यन्त प्रसन्नमूर्ति तथा हास्यमय मुखमण्डल के साथ देखा। गोलाप-माँ ने मुझसे कहा, "पुरीधाम का दर्शन करते जाओ न।" मैं बोला, "और क्या देखूँगा? माँ के पादपद्म ही मेरे अनन्त कोटि तीर्थ हैं। मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।"

माँ ने मेरी बात सुनकर कहा, "रहने दो, नहीं भी गया तो क्या! जरूरत नहीं।"

*** *** ***

द्वितीय दर्शन – १९१२ ई. के मई में 'उद्बोधन' के भवन में हुआ। इस बार श्रीयुत् राजेन्द्र मुखोपाध्याय तथा मेरी सहधर्मिणी की दीक्षा हुई। श्रीमती राधू की अस्वस्थता के कारण कोई विशेष बातचीत नहीं हुई। मेरी माता और दादी भी गयी थीं। मेरे दो पुत्र भी साथ थे। ये लोग भी श्रीमाँ का दर्शन तथा स्पर्श पाकर धन्य हुए।

*** *** ***

इसके बाद १९१३ ई. में जयरामबाटी में श्रीमाँ के भतीजे भूदेव के विवाह के तीन-चार दिन पूर्व दर्शन हुए। उस बार मैंने कोयलपाड़ा मठ में पहुँचकर सुना कि सम्प्रति एक भक्त[३] ने श्रीमाँ का दर्शन करके लौटते समय उसी मठ में देहत्याग कर दिया है। केशवानन्द जी ने कहा, "इस समय किसी के भी जयरामबाटी जाने में माँ की मनाही है; बड़ी गरमी पड़ रही है, वर्षा होने के पहले किसी को भी नहीं जाने दिया जायेगा।" मैं थोड़ा चिन्तित हुआ – इतनी दूर से आया हूँ, परन्तु माँ के निषेध को न मानकर भला कैसे जाऊँ! भोजन के बाद मैंने विश्राम किया। थोड़ी देर बाद ही माँ की कृपा से खूब वर्षा हो गयी। अगले दिन प्रात:काल मैंने जयरामबाटी जाकर श्रीमाँ को प्रणाम किया। कुशल आदि पूछने के बाद माँ ने कहा, "बेटा, कल खूब बर्षा हो गयी – आज अच्छी ठण्ड है।" दिवंगत भक्त की बात सुनकर माँ बोलीं, "साधु की जैसी मृत्यु होती है, वैसी ही उसकी भी हुई है; मैं उसे अब भी देख रही हूँ। तो भी उसका बूढ़ा बाप है, इसी कारण कष्ट होता है।" यह कहते हुए माँ की आँखों में आँसू आ गये।

उसी समय वाराणसी से आकर ब्रह्मचारी देवेन्द्रनाथ जयरामबाटी पहुँचे। उक्त ब्रह्मचारी ने बताया था कि वे पिछले जन्म की बातें जान सके थे। चार-पाँच वर्ष पूर्व उन्होंने मुझे बताया था कि मैं पिछले जन्म में उनका गुरु था। परन्तु मैं कुछ भी नहीं जानता था। मैं उनकी ऐसी सारी बातें पागल का प्रलाप कहते हुए हँसी में उड़ा देता था। हम दोनों के एक

---

३. द्वारकानाथ मजुमदार

साथ माँ के सम्मुख उपस्थित होने पर माँ ने स्वतःप्रवृत्त होकर कहा, "तुम दोनों एक ही जगह थे, पुनः एक ही जगह आये हो!"

यह सुनकर देवेन्द्र ने धीरे-से मेरे कान में कहा, "क्यों, मैंने जो कहा था, माँ की बात से समझ गये न कि वह बिल्कुल ठीक है ।

मैं – होगा, मैं तो कुछ नहीं जानता ।

श्रीमाँ के पास से बाहर आकर देवेन्द्र ने मुझसे कहा, "मैं माँ के पास से संन्यास लेने आया हूँ, परन्तु जब तक आप माँ के समक्ष इस विषय में अनुरोध नहीं करेंगे, तब तक मेरी मनोकामना पूरी नहीं होगी । ठाकुर की इच्छा से मैं इस समय आया हूँ । आपके कहे बिना नहीं होगा, इसी कारण ठाकुर इस समय मुझे यहाँ लाए हैं । मैं वाराणसी में श्री ठाकुर तथा माँ के प्रत्यक्ष दर्शन कर आया हूँ, बातचीत भी हुई थी – यह सब सत्य बात है ।"

मैंने कहा, "मैं आसानी से नहीं कहूँगा – देखूँ क्या होता है ।"

देवेन्द्र – बिल्कुल भी नहीं होगा ।

हम लोग वहाँ सात-आठ दिन थे । इसी बीच देवेन्द्र बड़ा उतावला हो गया; मुझे भी इस बात पर अत्यन्त आश्चर्य हुआ । अस्तु, एक दिन प्रातःकाल मैं अकेले ही श्रीमाँ के पास जाकर बोला, "माँ, तुमसे एक बात कहनी है ।"

माँ ने हँसकर कहा, "ठीक है, थोड़ी देर बाद आना, जब मैं सब्जी काटने बैठूँगी, तब आना ।"

थोड़ी देर बाद माँ सब्जी काटने बैठीं और मेरे उपस्थित होने पर बोलीं, "तुम्हें क्या कहना है, अब कहो ।"

मैं बोला, "तुम तो सब जानती हो – वाराणसी में तुमने देवेन्द्र को दर्शन भी दिया है, ठाकुर ने भी दर्शन दिया है । अब उसकी संन्यास ग्रहण करने की इच्छा है । वह तो अब गृहस्थी करनेवाला नहीं है – तो फिर उसे दे क्यों नहीं देती?"

सुनकर माँ थोड़े मृदु हास्य के साथ बोलीं, "वह यदि संन्यास ले, तो क्या किसी को कोई कष्ट नहीं होगा?"

मैं – उसके माता-पिता आदि कोई जीवित नहीं है । एक बड़ा भाई ही है, वह ब्राह्मसमाजी है और जीविकोपार्जन में सक्षम है । मुझे तो नहीं दिखता कि इससे किसी को कोई कष्ट होगा ।

माँ – ठीक है, तो हो जायेगा । कोयलपाड़ा से नया वस्त्र गेरुआ रंग में डुबा लाना । कल ही हो जायेगा ।

मैंने जाकर देवेन्द्र से सब कहा । सुनकर देवेन्द्र को खूब आनन्द हुआ; सभी चीजों की व्यवस्था कर ली गयीं ।

अगले दिन श्रीमाँ के कमरे में श्री ठाकुर की मूर्ति के सामने रखकर माँ ने पूजा आदि किया और देवेन्द्र को गेरुआ वस्त्र तथा कौपीन देने के बाद उसे बाहर जाकर पहन आने को कहा । मैं तब भी श्रीमाँ के पास ही बैठा अपने दुर्भाग्य के बारे में सोच रहा था कि तभी माँ ने मानो मेरे मन का भाव समझकर ही सस्नेह कहा, "बेटा, ठाकुर का प्रसादी शरबत पीयोगे?" मैंने कहा, "हाँ माँ, दो ।"

माँ ने शरबत का गिलास उठाया और थोड़ा-सा स्वयं पीने के बाद उसे यत्नपूर्वक मेरे हाथ में दे दिया। मैं श्रीमाँ का प्रसादी शरबत पीकर धन्य हुआ, ऐसा प्रतीत हुआ, "इसके सामने संन्यास भला क्या है? यह तो देवदुर्लभ है।" एक अद्भुत भाव से हृदय परिपूर्ण हो गया।

देवेन्द्र के गेरुआ पहनकर माँ को प्रणाम करने आने पर माँ ने मुझसे कहा, "देखते हो न, मानो एक अन्य ही हो गया है, वह आदमी अब नहीं रहा।"

काली मामा (माँ के मझले भाई तथा भूदेव के पिता) आकर मुझसे अनुरोध करने लगे कि मैं भूदेव के विवाह में जाऊँ, परन्तु मेरी अपनी इच्छा माँ के पास ही रहने की थी। मेरा भाव समझकर ही माँ ने कहा, "नहीं, उसे जाने की जरूरत नहीं, वह यहीं रहेगा।"

विवाह के उपलक्ष्य में ब्राह्मण रसोइये भोजन पका रहे थे। देवेन्द्र तथा मैं थोड़ी दूर खड़े होकर देख रहे थे। इसे देखकर माँ ने (उनसे) कहा, "इन लोगों के गले में जनेऊ नहीं है, इसीलिए सोच रहे हो कि ये छोटे हैं। अहा, इनकी बराबरी करनेवाला भला कौन है?"

विवाह के अवसर पर एक खिलाड़ी पहलवान अपने सीने पर पत्थर तुड़वाने का प्रदर्शन कर रहा था। पत्थर तोड़ते समय माँ बारम्बार प्रार्थना कर रही थीं, "ठाकुर, रक्षा करो; ठाकुर, रक्षा करो।" पत्थर टूट जाने के बाद माँ ने मुझसे पूछा, "बेटा, ये लोग क्या कोई मंत्र-तंत्र जानते हैं?"

मैं – नहीं माँ, मंत्र-तंत्र कुछ नहीं है; ऐसे ही क्रमश: अभ्यास से हो गया है। मैंने एक कहानी सुनी है – अमेरिका में एक व्यक्ति प्रतिदिन एक बछड़े को गोद में उठाकर दूर स्थित चरागाह में ले जाता था। बछड़ा क्रमश: बड़ा होकर साँड़ में परिणत हो गया, तब भी वह उसे गोद में उठा लेता और सबको यह खेल दिखाता था। यह सब अभ्यास से होता है।

माँ – अच्छा! देखा न, अभ्यास में कितनी शक्ति है! इसी प्रकार जप का अभ्यास करते करते मनुष्य सिद्ध हो जाता है – जपात् सिद्धिः, जपात् सिद्धिः, जपात् सिद्धिः।

नाग महाशय की जीवनी में है कि श्रीमाँ ने कुछ प्रसाद बनाकर स्वयं ही उन्हें खिला दिया था, जिस पर आनन्द में आत्मविभोर होकर उन्होंने कहा था, "पिता से भी दयालु माँ है – पिता से भी दयालु माँ है!" इसे पढ़कर मेरे मन में आया था – "माँ क्या मुझे भी इसी प्रकार खिलाएँगी? परन्तु यह बात माँ से कहूँगा नहीं, यदि वे स्वयं ही दया करके खिला दें, तो होगा।"

आश्चर्य की बात यह है कि सचमुच ही एक दिन उन्होंने मुझे उसी प्रकार से प्रसाद खिला दिया था।

उसी समय जयरामबाटी में एक संन्यासी आये हुए थे। वे रामकृष्ण मठ के नहीं थे, परन्तु देखा कि वे श्रीमाँ के परिचित थे। एक दिन सुबह मैं खाने बैठा था। वे संन्यासी भी बगल में थोड़ी दूरी पर बैठे थे। माँ ने मुझसे कहा, "बेटा, क्या गेरुआ लेने से ही हो गया? (उक्त संन्यासी को दिखाते हुए) यह देखो न, गेरुआ लिया है।"

फिर मुझसे बोलीं, "तुम्हारा ऐसे ही हो जायेगा। गेरुआ की क्या जरूरत?"

मैं श्रीमाँ के लिए एक जोड़ी वस्त्र ले गया था। मैंने माँ से कहा, "माँ, सुना है कि तुम कपड़े सबको बाँट देती हो। यदि तुम ये दो वस्त्र स्वयं पहनो, तो मुझे खूब आनन्द

होगा।'' सुनकर माँ कुछ बोलीं नहीं, केवल थोड़ा-सा हँसकर रह गयीं। अगले दिन मेरे जाते ही वे बोलीं, ''यह देखो बेटा, तुम जो वस्त्र लाये थे, उसी को पहना है।''

मेरी प्रार्थना पर श्रीमाँ ने अपना उपयोग किया हुआ एक वस्त्र मुझे देते हुए कहा था, ''बड़ा गन्दा हो गया है, तुम धो लेना।''

मैंने कहा, ''नहीं माँ, तुमने जैसे दिया है, ठीक वैसे ही रखने की इच्छा है; इसे धोबी के घर नहीं दिया जायेगा।''

माँ – अच्छा, वही ठीक है।

एक दिन माँ खाने बैठी थीं। उसी समय मैं तथा देवेन्द्र वहाँ जा पहुँचे। माँ ने कहा, ''प्रसाद लोगे?'' हम दोनों ने हाथ फैला दिये। थोड़ा-सा अपने मुख से लगाकर उन्होंने हमें प्रसाद दिया। हाथ से कहीं गिर न जाय, इस आशंका से स्वयं ही अच्छी तरह दबा दिया। माँ का ब्राह्मण शरीर था और मैं कायस्थ था, परन्तु उनमें कोई वर्ण-विचार नहीं था, मेरे हाथ में दे दिया। बाद में उन्होंने स्वयं खाना आरम्भ किया। हम लोगों को वे ऐसे देखती थीं – मानो हम ठीक उन्हीं की सन्तान हों।

मैं जब भी श्रीमाँ का दर्शन करने जाता, तो सुविधानुसार कुछ फल या कोई अन्य वस्तु ले जाता। मैंने सुन रखा था कि माँ सबकी चीजें ठाकुर को दे नहीं पाती थीं। इस कारण कई बार मन में भय होता – ''कौन जाने, हम तो अच्छे आदमी हैं नहीं, माँ ग्रहण कर सकेंगी या नहीं – कौन जाने।'' परन्तु माँ प्रायः कहतीं, ''बेटा, तुम जो अमुक चीज लाये थे, उसे ठाकुर को दिया है, अच्छी चीज थी, खूब मीठी – मैंने भी खाया।''

एक दिन मैंने पूछा, ''माँ, भगवन्नाम जपने से क्या प्रारब्ध का क्षय नहीं हो जाता?''

माँ ने कहा, ''प्रारब्ध को तो भोगना ही पड़ता है। परन्तु भगवान का नाम जपने से यह होता है कि जैसे किसी के पाँव कट जाने की बात थी, उसके स्थान पर एक काँटा गड़कर भोग हो जाता है।''

मैंने माँ से कहा था, ''माँ, साधन-भजन तो कुछ भी कर नहीं पाता हूँ, और आगे भी कुछ कर सकूँगा – ऐसा नहीं लगता।''

माँ ने दिलासा देते हुए कहा, ''और भला क्या करोगे, जो कर रहे हो, वही किये जाओ। याद रखना – तुम लोगों के पीछे ठाकुर हैं, मैं हूँ।'' □ (क्रमशः) □

सच्चा कार्य

जब हमारा 'अहं'ज्ञान नहीं रहता, तभी हम अपना सर्वोत्तम कार्य कर सकते हैं, दूसरों को सर्वाधिक प्रभावित कर पाते हैं। सभी महान प्रतिभाशाली व्यक्ति इस बात को जानते हैं। उस दिव्य कर्ता के प्रति अपना हृदय खोल दो, तुम स्वयं कुछ भी करने मत जाओ। उनके ऊपर पूर्णतया निर्भर रहो, पूर्ण रूप से अनासक्त रहो। ऐसा होने पर ही तुम्हारे द्वारा कुछ यथार्थ कार्य हो सकता है।

– स्वामी विवेकानन्द

ईश्वरप्राप्ति के मार्ग

_स्वामी वीरेश्वरानन्द_

(रामकृष्ण संघ के दशम अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने २४ सितम्बर, १९६७ ई. को रामकृष्ण मिशन, मुम्बई में, भक्त-साधकों के कल्याणार्थ एक अतीव सारगर्भित भाषण दिया था, जो बाद में अनुलिखित तथा अनुवादित होकर अनेक भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तिकाओं के रूप में भी प्रकाशित हुआ। मूल अंग्रेजी में यह भाषण 'Spiritual Ideal for the Present Age' नामक पुस्तक में उपलब्ध है। इसका हिन्दी अनुवाद काफी काल पूर्व रामकृष्ण मिशन सारदापीठ, बेलूड़ से पुस्तिका-रूप में प्रकाशित हुआ था। इसकी उपयोगिता तथा काफी काल से अनुपलब्धता देखते हुए हम यहाँ उसे नये रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

जीवन का चरम लक्ष्य

प्राचीन काल के ऋषियों ने भगवत्प्राप्ति को ही हमारे जीवन का आदर्श तथा चरम लक्ष्य बताया है। उन्होंने यह आदर्श हमारे समक्ष इसलिए रखा, क्योंकि हमारे लिए अपने दुःखों तथा वेदनाओं से छुटकारा पाने, अपने सच्चे स्वरूप से परिचित होने तथा भगवत्कृपा से धन्य होने का यही एकमात्र उपाय है। इस महान आदर्श के सम्मोहन ने हमारी पावन मातृभूमि के महात्माओं, नरेशों, राजकुमारों तथा समाज के उच्चकोटि के लोगों को आकृष्ट किया है और उन्होंने इसके लिए अपना सर्वस्व त्याग किया है। वे लोग समझ गये थे कि यह क्षणभंगुर संसार द्रुत-परिवर्तनशील है, इसमें कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है और एकमात्र ईश्वर ही सत्य हैं – उनकी भगवत्प्राप्ति की इस आकांक्षा का यही कारण था।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "यदि मैं जानता कि यह दुनिया स्थायी है, तो मैं (अपनी जन्मभूमि) कामारपुकुर को सोने से मढ़वा देता – परन्तु यहाँ तो कोई भी वस्तु चिरस्थायी है ही नहीं।" श्री चैतन्य महाप्रभु के एक अनन्य शिष्य श्री रूप गोस्वामी वृन्दावन में रहते थे। उन्होंने देखा कि उनके भाई, जो बंगाल के नवाब के दरबार में मंत्री थे, सांसारिक विषयों में निमग्न रहते हैं। उनको अपने भाई के प्रति सच्चा प्रेम था, इसलिए उन्होंने उनके पास एक श्लोक लिख भेजा, जिसका सारांश था, "सोचो तो, अयोध्या तथा द्वारका के विशाल नगर अब क्या हैं। अत: यह निश्चित जान लो कि संसार में परमात्मा के सिवाय और कोई भी वस्तु नित्य नहीं है।" इस उपदेश से उनके भाई की आँखें खुल गयीं और उन्होंने राज्य का मंत्री-पद त्यागकर वृन्दावन में जाकर भगवत्प्राप्ति के लिए साधना शुरू कर दी। यही भारत का चिरन्तन आदर्श है। गीता में श्रीकृष्ण का यही उपदेश है –

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्। (९/३३)

अर्थात् "इस अनित्य और दु:खमय जगत में आकर केवल मेरी आराधना करो।" अत: हम देखते हैं कि हमारे धर्मग्रन्थ, हमारे ऋषि, हमारे आचार्य और स्वयं भगवान के अवतारों का आदेश है कि हमें सांसारिक मार्ग में शान्ति की आशा त्यागकर अपने सच्चे रूप से परिचित होना है तथा शान्ति प्राप्त करना है। सांसारिक मार्गों में शान्ति नहीं है।

सन्तों का कहना है कि हमारा सच्चा स्वरूप है – सच्चिदानन्द। हम पूर्ण सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हैं, परन्तु हम इसे भूल गए हैं और इसीलिए हमें दु:ख भोगना पड़ता है। सन्तों तथा धर्मग्रन्थों का यह कथन तो सत्य है ही, परन्तु क्या हम अपनी बुद्धि से भी नहीं समझ सकते कि यही हमारा सच्चा रूप है? हाँ, हम अपनी स्वाभाविक तर्क करने की तथा कार्य-कारण सम्बन्धी बौद्धिक पर्यलोचना द्वारा इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। जब हम किसी

विशेष वातावरण में रहते रहते उसके अभ्यस्त हो जाते हैं, तो उस परिचित वातावरण से हटाकर किसी अन्य स्थान में भेजे जाने पर हम दुखी हो जाते हैं और अपने पुराने स्थान में जाने को उत्सुक रहते हैं; वैसे ही यदि हम अपने सच्चे स्वरूप को भूल जायें, तो व्याकुल होकर उसे प्राप्त करने का प्रयास करेंगे, जैसे यदि एक मछली को पानी से निकालकर जमीन पर रख दिया जाय, तो वह व्याकुल होकर पानी में लौटने का प्रयास करेगी, क्योंकि पानी ही उसके लिये जीवन है। यदि आप एक लता को छाया में डाल दें, तो कुछ ही दिनों में देखेंगे कि वह ऐसे स्थान में फैल गयी है, जहाँ उसे सूर्य की किरणें मिल सके, क्योंकि सूर्य की रश्मियाँ ही उसका जीवन हैं। इसी प्रकार हम अपने सच्चे स्वरूप की पुन: प्राप्ति के लिए सतत सचेष्ट हैं। आत्म-विश्लेषण से हमें पता चलता है कि प्रत्येक मनुष्य जीवित रहना चाहता है। हमें मरने की इच्छा नहीं होती। हम जीना और अमर होना चाहते हैं। हममें ऐसी इच्छा क्यों है? क्योंकि हमारी वास्तविक प्रकृति अनन्त काल जीवित रहने की है, सत्यस्वरूप बनने की है। इसीलिए चेतन और अवचेतन रूप से हम अपनी खोई हुई पुरानी अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार, हम तर्क से जान सकते हैं कि 'चित्-स्वरूप' भी हमारी वास्तविक प्रकृति है। हम अपने वर्तमान ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं हैं, सर्वदा अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, अनन्त ज्ञान पाना चाहते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारी वास्तविक प्रकृति 'चित्-स्वरूप' है। फिर, हम सदा प्रसन्न रहना चाहते हैं, आनन्दित रहना चाहते हैं, हम दु:ख नहीं चाहते, हमें दु:खों से घृणा है। क्योंकि हमारी वास्तविक प्रकृति परम सुख है, आनन्दस्वरूप है और हम सदा उस परम सुख की खोज में रहते हैं। इस प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि हमारी सच्ची प्रकृति 'सच्चिदानन्द-स्वरूप' है।

अज्ञान ही बन्धनों का कारण है

हमारी यह वास्तविक प्रकृति कैसे लुप्त हो गई? निश्चय ही अज्ञान के कारण। अज्ञानता के कारण हमने अपनी वास्तविक प्रकृति भुला दी और इसी कारण हम दु:ख झेल रहे हैं। हमारे सारे प्रयत्न, सारे संघर्ष अपनी उस अनन्त वास्तविक प्रकृति की ओर लौटने के लिए हैं। परन्तु कभी कभी ठीक मार्ग न जानने के कारण हम इस संसार-बन्धन से मुक्त होने की जगह इसके बन्धनो में फँसते जाते हैं। यदि हम अपनी यथार्थ प्रकृति को जान लें और अपने अज्ञान से छुटकारा पा लें, तो दु:खों से मुक्त हो जाएँगे। अज्ञान क्या है? इस क्षणभंगुर तथा अवास्तविक संसार को स्थायी समझना ही अज्ञान है। इस गन्दगी से परिपूर्ण शरीर को सुन्दर और पवित्र समझना – यही अज्ञान है। यह जानते हुए भी कि इन्द्रिय-सुख पीड़ा लाते हैं, यह सोचना कि ये आनन्द और परम सुख देंगे – यही अज्ञान है। सारे सम्बन्धी जो यथार्थत: अपने नहीं हैं, उनको अपना समझना ही अज्ञान है।

श्रीशंकराचार्य ने वेदान्त-सूत्रों की अपनी व्याख्या के प्रारम्भ की दो पंक्तियों में ही सारी स्थिति को अनोखे ढंग से प्रस्तुत किया है, जिसका खण्डन आज तक कोई भी दार्शनिक नहीं कर सका है। वे कहते हैं, "यद्यपि आत्मा और अनात्मा – चेतन और जड़ पदार्थ, दिन व रात अथवा प्रकाश व अन्धकार की भाँति परस्पर विरोधी हैं, तथापि यह सामान्य अनुभव है कि हम 'मैं' कहते समय इन दोनों को मिश्रित करके अपने शरीर से तादात्म्य कर डालते हैं।" फिर यद्यपि आत्मा असीम और सर्वव्यापी है, तथापि हम कहते हैं, "मैं इस भवन में हूँ"। इसी प्रकार हम स्वयं को बाह्य पदार्थों से – अपने परिवार के सदस्यों आदि से जोड़ लेते हैं और उनकी कठिनाइयों से दुखी होते हैं। फिर हम अपनी मानसिक स्थिति

या अवस्थाओं से तादात्म्य स्थापित करके सुखी, दुखी या निराश होते हैं। इसी कारण हम दूसरों के प्रति घृणा का भी अनुभव करते हैं। आत्मा इन मानसिक अवस्थाओं का केवल साक्षी है, परन्तु हम उनका आपस में तादात्म्य कर डालते हैं और इसी कारण हम दु:ख उठाते हैं। यही हमारी स्थिति है और हमें अपनी आत्मा को इससे छुटकारा दिलाना है। सभी धर्म और महान् अवतार हमें इन बन्धनों से मुक्त होने का मार्ग बताते हैं। वे हमें इन दु:खों तथा बन्धनों से छूटने के उपाय बतलाते हैं और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गों में भेद भले ही हो, पर उनसे एक ही लक्ष्य तक पहुँचा जाता है। विभिन्न धर्म विभिन्न पद्धतियाँ बताते हैं, पर वे सभी हमें मुक्तिरूपी एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं।

चार महान् मार्ग

अब हम अगले विषय पर आते हैं – क्या ये सभी धार्मिक शिक्षाएँ सचमुच ही एक दूसरे से नितान्त भिन्न तथा स्वतंत्र हैं? सावधानी से अध्ययन करने पर पता चलेगा कि इन विभिन्न धर्मों द्वारा बताए गए सभी उपायों को मुक्ति के चार महान् मार्गों तक सीमित किया जा सकता है। हम देखते हैं कि सभी धर्म इन्हीं – कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और राजयोग में से किसी एक का प्रचार करते हैं अथवा किन्हीं दो या चारों मार्गों के मिश्रण का उपदेश देते हैं। अब चाहे कर्म का मार्ग हो या ज्ञान का, उपासना का हो या ध्यान का, दो का मिश्रण हो या चारों का – इसी से उसकी प्राप्ति होती है। सभी धर्म इसी बिन्दु पर मिलते हैं, भले ही उनकी पुराण-कथाओं तथा अनुष्ठानों में भेद हों। सामान्यताओं की दृष्टि से उन पर विचार करने पर हम पाते हैं कि वे केवल इन चार महान् मार्गों का ही प्रचार करते हैं। इन मार्गों का अनुसरण करके हम 'मैं'-'मेरा' से मुक्त हो सकते हैं, जिसे चिज्-जड़-ग्रन्थि भी कहते हैं। इन मार्गों में से किसी एक के द्वारा भी हम इससे मुक्त हो सकते हैं।

कर्मयोग में दूसरों की सेवा की जाती है, अपने आपको दूसरों के दु:खों से जोड़ दिया जाता है और कुछ काल के लिए अपनी जरूरतों, अपना शरीर तथा स्वयं को भुला दिया जाता है। इस प्रकार जब आप दूसरों की सेवा करते हैं तथा स्वयं को दूसरों से जोड़ लेते हैं, तो स्वभाविक रूप से क्रमश: स्वयं को भूल जाएँगे और इस प्रकार अपने सीमित व्यक्तित्व की जगह पूरे विश्व के साथ जुड़कर आप मैं-मेरा की भावना से मुक्त हो जाएँगे।

ज्ञानयोग के द्वारा भी इस बन्धन से छुटकारा पाया जा सकता है। इसमें आप विचार करते हैं कि क्या सत्य है और क्या असत्य। इसमें 'नेति' 'नेति' के मार्ग से विचार करते हुए आप जो कुछ अनात्मा है, उसका त्याग कर देते हैं। इस प्रकार आप अपने शरीर, मन तथा भावनाओं को और यहाँ तक सभी अनात्म वस्तुओं का तब तक निषेध करते रहते हैं, जब तक कि आप अपने अस्तित्व के मूल अर्थात आत्मा तक नहीं पहुँच जाते। इस प्रकार आप आत्मा की अनुभूति करके समस्त दु:खों के परे चले जाते हैं।

अब आता है भक्तियोग। इसमें आप ईश्वर से प्रेम करते हैं और सब कुछ उन्हीं के लिए करते हैं – आप उन्हीं से प्रार्थना करते हैं, उनके लिए गृह-निर्माण करते हैं, भोजन तैयार करते हैं और इस प्रकार सब कुछ उन्हीं के निमित्त करते हैं। इस प्रकार आप उनके साथ सम्बन्ध जोड़कर अपनी क्षुद्र सत्ता को भूल जाते हैं। इस पद्धति से भी आप 'मैं' और 'मेरा' रूपी अज्ञान के बन्धन से छुटकारा पा जाते हैं।

इसके बाद राजयोग या ध्यान का अभ्यास आता है। इसमें भी आप अपने मन की सारी वृत्तियों को नियंत्रण में लाने तथा उन पर विजय पाने का प्रयास करते हैं। योग का अर्थ है

– मन की वृत्तियों का नियंत्रण । इसमें आप प्रयास करते हैं कि मन में कोई कामना या विचार उत्पन्न होकर उसके सन्तुलन में विघ्न न डाल सके; आप अपने मन को पूर्णत: शान्त तथा निर्मल बनाने का प्रयास करते हैं । इसके शान्त एवं पवित्र हो जाने पर आपको अपनी आत्मा का दर्शन होगा । जैसे एक झील में जब लहरें नहीं होतीं, कीचड़ नहीं होता, उसका जल निर्मल होता है, तभी आप उसका निचला तल देख सकते हैं, परन्तु जब उसमें लहरें उठती रहती हैं और पानी गन्दा होता है, तो आप इसके तल को नहीं देख पाते । इसी प्रकार मन जब अशुद्ध होता है या उसमें वृत्तियाँ रहती हैं, तब आप अपनी आत्मा को नहीं देख पाते, परन्तु यदि आपका मन शुद्ध तथा वृत्तिहीन है, तो आप अपने मन के पीछे अवस्थित आत्मा का दर्शन कर सकेंगे । इस प्रकार इनमें से किसी भी एक मार्ग के द्वारा आप ईश्वरप्राप्ति के लिए प्रयास कर सकते हैं ।

योगों का सम्मिश्रण

परन्तु सामान्यत: लोगों के मन की बनावट ऐसी नहीं होती कि वे केवल एक ही मार्ग का सफलतापूर्वक अनुसरण कर सकें । उनके मन की संरचना ऐसी होती है कि उन्हें एक से अधिक योगों को जोड़ने की आवश्यकता पड़ती है । श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि कम-से-कम तीन योगों का सम्मिश्रण करना चाहिए । जैसे एक चिड़िया को उड़ने के लिए दो पंखों और एक पूँछ की आवश्यकता होती है, वैसी ही मनुष्य की साधना भी तीन योगों को जोड़े बिना ईश्वरानुभूति की ऊँचाइयों तक नहीं उठ सकती । इस प्रकार यह योग-सम्मिश्रण ही प्रत्येक मनुष्य की सहज मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है । यद्यपि प्रत्येक योग हमें उस परम सत्य तक पहुँचाने में समर्थ है, तथापि मानव व्यक्तित्व ऐसा है कि हमें इनमें से किन्हीं तीन को जोड़ना होगा और उनमें जो सबसे प्रबल प्रतीत होता है, उसी को हम अपना चुना हुआ मार्ग बताते हैं । यदि कर्म या विचार की अपेक्षा हमारा भक्ति की ओर रुझान अधिक है, तो हम स्वयं को भक्तिमार्गी बताते हैं; यदि युक्ति-तर्क अधिक प्रबल है, तो कहते हैं कि हमारा ज्ञानमार्ग है । इस प्रकार व्यक्ति की साधना में अन्य योगों का मिश्रण होने पर भी हम उसके भावों की प्रमुखता को ध्यान में रखकर ही उसे कर्मी, ज्ञानी, भक्त या योगी कहते हैं ।

अब हम एक अन्य विषय पर आते हैं । श्रीकृष्ण उद्धव को सलाह देते हैं, "विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के उपयुक्त मैंने तीन योगों का विधान किया है । जो लोग सांसारिक सुखों के प्रति उदासीन हैं, उनके लिए मैंने ज्ञानयोग और जो सांसारिक सुखों के प्रति आसक्त हैं, उनके लिए कर्मयोग का विधान किया गया है ।" ऐसे लोग काम्य कर्म की साधना के द्वारा फलप्राप्ति की इच्छा से कर्म करते हुए क्रमश: ऐसी अवस्था प्राप्त करेंगे, जिसमें वे अनासक्त होकर कर्म कर सकेंगे और इस प्रकार अनासक्त भाव से कर्म करते हुए मन शुद्ध हो जाने पर उनमें विचार-शक्ति का उदय होता है । तब वे सत्य और असत्य की विवेचना करने में सक्षम हो जाते हैं और इससे उनके मन में इस नश्वर जगत् से वैराग्य तथा ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा जाग्रत होती है । इस अवस्था में पहुँचने पर वे स्वभावत: ऐसे लोगों के पास जाते हैं, जो इस दिशा में उनकी सहायता कर सकते हैं और इस प्रकार वे भगवत्प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं । अत: सांसारिक सुखों को अत्यधिक महत्व देनेवाले लोगों के लिए श्रीकृष्ण ने कर्मयोग का विधान किया है । लेकिन सामान्यत: अधिकांश लोग इतने उदासीन नहीं हैं कि ज्ञानमार्ग का अनुगमन करें या वैरागी हों और सांसारिक सुखों के प्रति इतने आसक्त भी नहीं हैं कि कर्ममार्ग का अनुगमन करें । अधिकांश लोग सांसारिक सुखों में

आसक्त होकर भी ईश्वर में विश्वास रखते हैं, भक्ति करते हैं और जागतिक सुखों के प्रति उनका लगाव उतना प्रबल नहीं होता । ऐसे लोगों के लिए श्रीकृष्ण ने भक्तिमार्ग का विधान किया है । यही मध्यम श्रेणी के लोगों का मार्ग है । इसमें सामान्यत: लोग द्वैतवाद से शुरू करते हैं और ईश्वर को अपने से पृथक् समझकर उनकी उपासना करके उनका साकार रूप में दर्शन करने के बाद, उनकी कृपा से उनकी निराकार रूप में भी उपलब्धि करते हैं ।

भक्तिमार्ग के सोपान – पूजा, जप, ध्यान

भक्तिमार्ग में हम 'द्वैतवाद' से शुरुआत करते हैं । इसमें तीन अवस्थाएँ हैं – पूजा-अनुष्ठान की अवस्था, जिसमें हम समस्त प्रतीकों तथा उपचारों के साथ बाह्य-पूजा करते हैं । इस तरह की पूजा मन को भगवन्नाम के जप आदि के लिए तैयार करती है । दिन-प्रतिदिन पूजा करते रहने पर हमारा मन अधिकाधिक ईश्वर-भाव में रँगता जाता है और तब जप करना हमारे लिए बड़ा सहज-स्वाभाविक हो जाता है तथा इसमें आनन्द प्राप्त होने लगता है । इस प्रकार की वैधी पूजा मन को जप के लिए तैयार करती है । जप के गहरे होने पर मन एकाग्र हो जाता है और इस एकाग्रता में स्थित हो जाने पर हमें समाधि या ईश्वर की अनुभूति होती है । इस तरह हम क्रमश: एक के बाद दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते जाते हैं ।

जप का अर्थ है – किसी विशेष देवता के प्रतिनिधि-स्वरूप उनके शब्द-प्रतीक की बारम्बार आवृत्ति । प्रत्येक विचार का एक शाब्दिक रूप भी होता है । शब्द तथा उसके भाव-विचार को अलग नहीं किया जा सकता । आध्यात्मिक स्तर पर भी कुछ शब्द-प्रतीक कुछ विशेष भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो आपस में जुड़े होते हैं । 'ॐ' ईश्वर के निराकार भाव का प्रतीक है, ऐसे ही परमेश्वर की भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में विविध देवताओं के भी अलग अलग 'बीजमंत्र' हैं, जिनके साथ वे सम्बद्ध हैं और इन मंत्रों के साथ उन देवताओं के नाम का जप करने से हमारा मन उनमें एकाग्र हो जाता है ।

मंत्र क्या है? मंत्र उसे कहते हैं, जो हमारे मन को संसार से खींचकर ईश्वर के चरणों में लगा देता हैं । ये बीजमंत्र केवल शब्द या ध्वनि नहीं हैं, इनमें शक्ति निहित है । एक बीज में अपने भीतर से एक विशाल वृक्ष में विकसित होने तथा फल-फूल उत्पन्न करने की शक्ति होती है । क्योंकि बीज में वृक्ष को उत्पन्न करने की क्षमता निहित है । उसी प्रकार ये समस्त बीजमंत्र भी केवल शब्द या ध्वनियाँ नहीं है, उनमें वह शक्ति निहित है, जो साधक को उसके इष्ट-देवता या ईश्वरप्राप्ति कराने में सहायक हो सकती है । जप किये जाने पर, ये बीजमंत्र आपके इष्टदेव के मूल स्वरूप को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखते हैं । जैसे पौधे के मामले में बीज को मिट्टी में बोने के लिए पहले माली उसके लिए जमीन तैयार करता है, उसका सिंचन करता है, उसमें खाद देता है और जानवरों से उसकी रक्षा करता है । इसके बाद वह बीज अंकुरित होता है और बढ़ते हुए समय आने पर एक बड़े वृक्ष के रूप में बदल जाता हैं । वैसे ही यह बीजमंत्र भी सजीव है और इष्टदेव को प्रकट करने की सामर्थ्य रखता है, परन्तु इसके प्रतिफलन के लिए साधना भी आवश्यक है । जैसे एक वृक्ष के विकास में माली का कार्य आवश्यक है, वैसे ही आपमें इष्टदेव को प्रकट करने के लिए साधना भी आवश्यक है । अत: मंत्र में निहित शक्ति और साधक का प्रयास – दोनों मिलकर अन्तत: साधक के समक्ष इष्टदेव को प्रकट करते हैं । जप का यही तात्पर्य है । जप करते समय हम अपने इष्टदेव का ध्यान भी करते हैं । ये दोनों क्रियाएँ साथ साथ होती हैं, क्योंकि दोनों एक ही हैं । मंत्र का जप करते समय हमें उसके अर्थ का भी चिन्तन करना

होगा । अर्थ पर चिन्तन करने से तात्पर्य यह है कि हमें उस मंत्र के देवता का ध्यान करना होगा । इस प्रकार यदि आप अपने इष्टदेव का ध्यान करते हैं, तो आपका मन एकाग्र हो जाता है । इसका आप जितना ही अभ्यास करते हैं, मन भी अपने इष्ट पर उतना ही अधिक एकाग्र होता जाएगा । इस तरह आप क्रमशः आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर होते जाएँगे ।

बाधाओं को दूर करने के उपाय

जब हम दृढ़ता के साथ अपने आध्यात्मिक जीवन की शुरुआत करते हैं, तो आरम्भ में ही सोचते हैं कि कुछ दिनों के ध्यान या जप के बाद ही मन में एकाग्रता आ जायेगी । परन्तु चिर काल तक इधर-उधर भटकनेवाले मन के लिए इतनी जल्दी अपनी दिशा में परिवर्तन करके अपने इष्टदेव पर एकाग्र हो जाना सम्भव नहीं है । यह एक बड़ा ही कठिन कार्य है, परन्तु इसमें चिन्तित या निराश होने की कोई बात नहीं है, बल्कि हमें केवल धैर्यपूर्वक कठोर संघर्ष करना होगा । जब आप ध्यान करने बैठते हैं, तो सम्भवतः आपके मन में तरह तरह के विचार तथा चित्र उभरने लगते हैं । आप पाएँगे कि ध्यान करते समय मन में ऐसे ऐसे विचार उठने लगते हैं, जिनके बारे में आपने कभी कल्पना तक न की थी । ये मन के अवचेतन स्तरों से प्रकट होते हैं । ऐसी अवस्था में, इन विचारों की उपेक्षा करना ही सबसे अच्छा उपाय है । उन पर जरा भी ध्यान मत दीजिए और आप देखेंगे कि वे धीरे धीरे लुप्त होते जा रहे हैं । परन्तु इसके विपरीत यदि आप उन्हें बड़ी गम्भीरता से लेते हैं, तो वे प्रबल हो उठती हैं और आपके लिए उनसे छुटकारा पाना भी कठिन हो जाता है । अतः सर्वोत्तम उपाय यह है कि ऐसे विचारों की उपेक्षा करते हुए उन पर ध्यान ही न दिया जाय ।

फिर कुछ अन्य विचार भी हैं, जिन्हें दूर रखने में आपको कठिनाई हो सकती है । ये हैं – मन के चेतन स्तर में स्थित अपने काम-धन्धे से जुड़े विचार । इनसे छुटकारा पाने के लिए आपको निम्नलिखित दो उपायों में से किसी एक को अपनाना होगा – (१) अपनी इच्छाशक्ति के बल से मन को अनुशासित करते हुए कहना होगा, "अब तुम किसी अन्य विषय पर नहीं सोच सकते, ध्यान रहे कि अब तुम्हें सब कुछ छोड़कर केवल ईश्वर के बारे में ही सोचना होगा ।" इस प्रकार मानो आप मन के साथ कठोर-अनुशासनात्मक रूप में पेश आते हैं । जिस प्रकार आप एक बच्चे को कुछ गलत करने से मना करते हैं, उसी प्रकार मन को भी अनुशासित किया जा सकता है । यदि इस पद्धति से आप अपनी इच्छाशक्ति का उपयोग करते हैं, तो कुछ काल के बाद ही आप पाएँगे कि मन इस अनुशासन के समक्ष हथियार डाल देता हैं । (२) दूसरा उपाय यह है कि मन को सलाह देते हुए कहा जाय, "तुम क्यों ये सब व्यर्थ की बातें सोचते हो? यदि तुम ईश्वर का चिन्तन करोगे, तो तुम्हें आनन्द मिलेगा, तुम सुखी होओगे ।" इस प्रकार यदि आप मन को सलाह देते हैं, तो आप देखेंगे कि एक छोटे बच्चे के समान ही मन भी उन सलाहों को स्वीकार कर लेता है और क्रमशः ध्यान में व्यवधान उत्पन्न करनेवाले विचारों को प्रश्रय देना बन्द कर देता है । इन चीजों का धीरे धीरे और दृढ़तापूर्वक अभ्यास करना होगा ।

अभ्यास और वैराग्य

दो-चार दिनों में मन को वश में नहीं लाया जा सकता । ध्यान आसानी से नहीं होता और इसका अभ्यास बड़ा कठिन है – केवल हमारा ही नहीं, बल्कि अर्जुन जैसे महात्मा का भी यही अनुभव है । श्रीकृष्ण द्वारा ध्यान का उपदेश पाने के बाद अर्जुन ने कहा, "तुमने मुझे जिस योग का उपदेश दिया है, वह प्राप्य नहीं है, क्योंकि मन को वश में करना

अत्यन्त कठिन है । मन की अपेक्षा वायु पर नियंत्रण करना सहज है ।'' उत्तर में श्रीकृष्ण इस बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं, ''तुम्हारा कहना सही है, पर सतत अभ्यास तथा वैराग्य से मन को वशीभूत किया जा सकता है ।'' महर्षि पतंजलि भी, मन को नियंत्रित करने या चित्त को वृत्तियों में परिणत होने से रोकने के – अभ्यास और वैराग्य – ये दो उपाय ही बताते हैं । अत: ध्यान की समस्त बाधाओं पर विजय पाने का यही उपाय है ।

हमें नियमित रूप से अभ्यास करना होगा । अभ्यास का अर्थ यह है कि मन जब जब ध्यान के विषय से दूर (या इधर-उधर) हट जाता हो, तब तब उसे खींचकर वापस लाना और वहीं स्थिर बनाये रखना । इस प्रकार मन जब भी अपने ध्यान के विषय से हटता हो, तो उसे ध्येय में स्थिर रखने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहना होगा ।

वैराग्य क्या है? इन्द्रिय-सुखों से विरति को वैराग्य कहते है । हमें विवेक-विचार के द्वारा मन में आनेवाली समस्त कामनाओं को त्यागना होगा । तालाब में फेंके गये पत्थरों के समान ही ये कामनाएँ भी हमारे मन में समस्याएँ उत्पन्न करती हैं । तालाब में फेंका गया पत्थर उसकी सतह पर तरंगें उत्पन्न करता है और इसके फलस्वरूप उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देखना कठिन हो जाता है । इसी प्रकार ये कामनाएँ भी मन में तरंगें उठाती हैं, जिनके फलस्वरूप हम उसमें अपने इष्टदेव का स्पष्ट रूप नहीं देख पाते । इन कामनाओं का त्याग करके हमें अपने मन को शुद्ध बनाना होगा और तभी हमारा ध्यान गहरा होगा । परन्तु आम तौर पर हम सच्चे दिल से ठीक ठीक अभ्यास नहीं करते । बस हम थोड़ी देर के लिए बैठ जाते हैं और सोचते हैं कि मन एकाग्र हो जाएगा । परन्तु ऐसा नहीं हो सकता । पहले मन को शुद्ध करना होगा । हमारा मन, हमारा हृदय कामनाओं से भरा हुआ है । उसमें ईश्वर के आकर बैठने के लिए कोई स्थान नहीं है । अत: हमें अपने हृदय को समस्त कलुषताओं से मुक्त और निर्मल बनाना होगा । केवल तभी हम ईश्वर के आगमन तथा अपने हृदय में विराजमान होने की अपेक्षा कर सकते हैं । जब हृदय पवित्र हो जाता हैं, तब हम प्रतिक्षण उनके आगमन तथा आसीन होने की अपेक्षा रख सकते हैं । जिस प्रकार एक प्रेमी अपनी प्रेयसी की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार हमें भी सदा-सर्वदा हर क्षण उनके आने की बाट जोहनी होगी । हमें प्रति क्षण यह आशा रखनी होगी कि ईश्वर आ रहे हैं – वे अभी यहाँ पहुँचने को हैं । तब हम निरन्तर सावधान रहेंगे और केवल ईश्वर के विषय में ही चिन्तन करेंगे । केवल तभी हमारे हृदय में उनके आने तथा विराजमान होने की सम्भावना है । इस तरह का संघर्ष सतत चलते रहना चाहिए । श्रीरामकृष्ण ने हमें बताया है कि जो खानदानी किसान हैं, वे दो-एक साल अकाल पड़ने पर भी खेती का काम नहीं छोड़ते । परन्तु जो लोग अनमने भाव से या केवल कमाई की दृष्टि से ही खेती आरम्भ करते हैं, वे दो-एक वर्ष अकाल पड़ने पर ही उस धन्धे को छोड़ देते हैं । परन्तु खानदानी किसान ऐसा न करके, दिन-पर-दिन, साल-दर-साल तब तक उसी में लगा रहता है, जब तक कि वर्षा नहीं आ जाती । सच्चा साधक भी वैसा ही होता है । वह उस आनन्द के आस्वादन की आशा लिए अपनी साधना में लगा रहता है, जो उसे और भी आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करती है । अत: निरन्तर अभ्यास आवश्यक है । चाहे हमें ध्यान में आनन्द मिले या न मिले, या चाहे नीरस ही क्यों न हो और साधना के आरम्भिक दौर में तो हममें से अधिकांश लोगों के लिए यह नीरस ही होगा । तथापि हमें इससे निराश न होकर, लगे रहना होगा । यदि हम ऐसा करते रहेंगे, तो कुछ वर्षों बाद हमें ध्यान में आनन्द प्राप्त होने लगेगा । प्रारम्भ में यह संघर्ष

निरन्तर बनाए रखना होगा। और साधक के जीवन में लगभग तीन या चार वर्षों का यह प्रारम्भिक काल अत्यन्त नीरस होता है और साधक को किसी भी प्रकार अपने दैनिक अभ्यास को दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए इसे पार करना होगा।

याद रखने की एक बात और है, वह यह कि हमें स्वयं में विश्वास रखना होगा, ऐसा आत्मविश्वास रखना होगा कि हम इसी जीवन में ईश्वरप्राप्ति कर लेंगे। हमें दुर्बलचित्त नहीं होना चाहिए। बल्कि हममें ऐसा दृढ़ आत्मविश्वास हो कि हम इसी शरीर, इसी मन से और इसी जीवन में भगवत्प्राप्ति करेंगे। यह विश्वास हमें साधना में काफी दूर तक ले जाता है। व्यक्तिगत संकल्प तथा प्रयास के बिना आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ना सम्भव नहीं है।

शरणागति का तत्त्व

कभी कभी हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं, "मैंने तो स्वयं को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर दिया है और अब मुझे और कुछ भी नहीं करना है।" परन्तु आत्मसमर्पण इतना आसान नहीं है। इसकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। सच्चे आत्मसमर्पण की अवस्था में पहुँचने के लिए सुदीर्घ काल तक या आजीवन अभ्यास की अपेक्षा है। तीव्र संघर्ष से गुजरे बिना हम आत्मसमर्पण की अवस्था में नहीं पहुँच सकते। एक संघर्षमय जीवन बिताने और ईश्वर-प्राप्ति के लिए अपनी सारी शक्ति और क्षमता का उपयोग कर लेने के बाद भी जब पता चले कि हम जहाँ के तहाँ हैं, केवल तभी हम अपने आपको समर्पित कर पाते हैं और तभी हम पर ईश्वर की कृपा होती है। परन्तु अपने व्यक्तिगत प्रयास के बिना हम भगवत्कृपा की अपेक्षा नहीं कर सकते। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "हम सदा उनके द्वार पर ही पड़े रहें, तभी उनकी कृपा हो सकती है।" हमारा कर्तव्य है कि सर्वदा उनके द्वार पर पड़े रहें अर्थात् सर्वदा उनका ध्यान-चिन्तन करते रहें। वस्तुत: तभी हमें उनकी कृपा पाने की काफी सम्भावना हो जायेगी, तथापि इससे हमें उनकी कृपा पर दावा करने का अधिकार नहीं मिल जाता। कृपा करना उनकी अपनी स्वाधीन इच्छा पर निर्भर है, परन्तु यदि हम सर्वदा उनके द्वार पर पड़े रहे, तो सम्भव है कि हम उन्हें पा ही जायँ। अत: भले ही हम कठोर साधना या लाखों जप करें, पर हम यह नहीं कह सकते कि इतनी साधना, इतने जप और इतने तपसे हमें ईश्वर मिल जायेंगे। कोई भी व्यक्ति कीमत चुकाकर उन्हें नहीं पा सकता। जब हम अपनी सारी शक्तियाँ लगाकर थक-हार जाते हैं, तभी ईश्वर की कृपा आकर हमारी सहायता करती है। अत: व्यक्तिगत प्रयास के द्वारा हम उन्हें नहीं पा सकते और साथ ही इसकी भी कोई गारंटी नहीं है कि व्यक्तिगत प्रयासों से हम उन्हें पा ही लेंगे, क्योंकि उन्हें पाना उन्हीं की कृपा पर निर्भर है और यह कृपा भी किसी शर्त के अधीन नहीं है। अन्तत: यह भगवत्कृपा ही हमें उनके वास्तविक स्वरूप को जानने में सहायता करती है।

आपको शायद श्रीरामकृष्ण की उस कथा का स्मरण हो – भगवती जगदम्बा ने हिमालय की पुत्री के रूप में जन्म लिया था और वे उनके घर में पुत्री के समान घूमा करती थीं। एक दिन पिता ने उनसे कहा, "मैं तो केवल तुम्हें अपनी पुत्री के रूप में ही जानता हूँ, पर मैं तुम्हारा वास्तविक स्वरूप जानने को इच्छुक हूँ।" माँ ने कहा, "पिताजी, मेरा सच्चा स्वरूप जानने के लिए आपको ऋषियों के समान जन्म जन्म तक साधना करनी होगी। केवल मेरे पिता होने के कारण ही आप उसकी उपलब्धि नहीं कर सकते।" हमारे आध्यात्मिक जीवन की भी यही वास्तविकता है। हमें पूरे जी-जान से प्रयास करना होगा, केवल तभी हमें भगवत्कृपा मिलेगी, अन्यथा उसकी प्राप्ति असम्भव है।

श्रीरामकृष्ण की दूसरी कथा भी शायद आप जानते होंगे – एक बार नारदजी भगवान के पास जा रहे थे। मार्ग में उन्हें दो साधक मिले और दोनों ने उनसे प्रार्थना की, "आप प्रभु से यह पूछने की कृपा करें कि मुक्ति पाने के पूर्व हमें और कितने जन्म लेने होंगे।" नारदजी के उसी मार्ग से लौटने पर एक साधक ने उनसे पूछा, "क्या आपने भगवान से पूछा?" नारदजी ने उत्तर दिया, "हाँ, मैंने उनसे पूछा?" – "उन्होंने क्या कहा?" – "कहा कि मुक्ति पाने के पूर्व आपको चार जन्म और लेने होंगे।" चार जन्मों की बात सुनकर साधक का मन बड़ा खिन्न हो गया। इसके बाद दूसरा साधक नारदजी से मिला और उसने भी पूछा, 'क्या आपने प्रभु से मेरे विषय में पूछा?' नारद ने कहा, "हाँ।" – "मुझे और कितने जन्म लेने पड़ेंगे?" – "पास में यह जो इमली का पेड़ और उसकी पत्तियाँ देखते हो न? इस वृक्ष पर जितनी पत्तियाँ हैं, उतने जन्मों के बाद तुम्हारी मुक्ति होगी।" इस पर वह साधक यह सोचकर कि इतनें जन्मों के बाद आखिरकार उसे मुक्ति मिल जायेगी, प्रसन्नता से नाचने लगा। तभी आकाशवाणी हुई – "वत्स! तुम अभी ही मुक्त हो गए।" तात्पर्य यह है कि उस साधक के विश्वास तथा निष्ठा से भगवान इतने प्रसन्न हो गये कि उन्होंने उसे तत्काल मुक्त कर दिया। इसके विपरीत दूसरा साधक यह सुनकर ही खिन्न हो गया कि उसे चार जन्म और लेने होंगे। साधना के प्रति उसका दृष्टिकोण गलत था।

प्रयास और कृपा

कृपा कैसे होती है, इसके दृष्टान्त के रूप में दो पक्षियों की एक कथा है। इन पक्षियों ने समुद्र के किनारे अण्डे दिए और भोजन की तलाश में उड़ गए। लौटने पर उन्होंने पाया कि समुद्र की लहरों ने उन अण्डों को बहा दिया है। इससे वे बड़े दुखी हुए और उन्होंने समुद्र को सुखा डालने का संकल्प किया। वे अपनी चोंच में थोड़ा-सा जल भरते और ले जाकर बालू पर डाल आते। इस प्रकार वे दिन-रात लगे रहे। तब जल के देवता वरुण के मन में जिज्ञासा हुई कि आखिर बात क्या है? उन्होंने आकर पक्षियों से पूछा, "तुम लोग क्या कर रहे हो?" पक्षियों ने उत्तर दिया, "समुद्र ने हमारे अण्डे बहा दिए हैं, इसलिए हम समुद्र को सुखाने का प्रयत्न कर रहे हैं, ताकि हमें अपने अण्डे वापस मिल सकें।" वरुण उनके निश्चय से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पक्षियों को उनके अण्डे लौटा दिए।

इसलिए यह निश्चित है कि बिना प्रयास तथा संघर्ष के कृपा नहीं मिलती। जब हम जी-जान लगाकर प्रयास करते हैं, तभी कृपा होती है। नहीं तो, हम उन्हें समर्पण कर रहे हैं – केवल इतना सोचकर ही हम उनकी कृपा पाने की अपेक्षा नहीं कर सकते। समर्पण इतनी आसानी से नहीं होता। आत्मसमर्पण बड़ा कठिन है। इसके लिए आपको कठोर साधनाएँ करनी पड़ेंगी। जब आप कहते हैं कि आपने समर्पण कर दिया है, तो उसके बाद आपके लिए करने का कुछ भी नहीं रह जाता। आपकी अपनी कोई इच्छा नहीं रह जाती।

एक उदाहरण राजा जनक का भी है। वे आध्यात्मिक उपदेश के लिए अष्टावक्र के पास गए और अष्टावक्र ने उपदेश दिया। राजा घोड़े पर सवार होकर मिथिला लौटनेवाले थे और उन्होंने अपना एक पाँव रकाब पर रखा ही था कि अष्टावक्र ने कहा, "मेरी गुरु-दक्षिणा कहाँ है? आपने मुझे दी नहीं।" राजा जनक ने कहा, "मैं आपको अपना सर्वस्व अर्पित करता हूँ। मेरा सारा राज्य और मैं स्वयं तथा मेरा जो कुछ भी है, उसे आपको गुरु-दक्षिणा के रूप में सौंपता हूँ।" अष्टावक्र ने उसे स्वीकार किया। राजा एक रकाब में अपना पाँव डाले वैसे ही खड़े रहे। वे घोड़े पर आरूढ़ न हो सके। कुछ काल बाद अष्टावक्र ने पूछा,

"क्या बात है? आप घोड़े पर चढ़कर मिथिला क्यों नहीं लौटते?" राजा ने उत्तर दिया, "भला कैसे लौट सकता हूँ? मैंने अपना सर्वस्व आपको सौंप दिया है, अब मेरा अपना कुछ भी नहीं रहा, इसलिए मुझमें कोई इच्छा भी नहीं है । मुझमें घोड़े पर चढ़कर मिथिला लौटने की शक्ति नहीं है ।" अष्टावक्र ने उन्हें सब कुछ लौटाकर कहा, "आप मेरी जगह पर राज्य चलाएँ ।" यही वास्तविक समर्पण है । आत्मसमर्पण करना कोई हँसी-खेल नहीं है ।

आप गिरीश बाबू का जीवन भी जानते हैं, जिन्होंने श्रीरामकृष्ण को अपना मुख्तारनामा सौंप दिया था । वे कहा करते थे, "इस मुख्तारनामे को सौंपने की अपेक्षा साधना करना मेरे लिए सरल होता । क्योंकि मुख्तारनामा सौंपने के बाद से मुझे लगता है कि करने को मुझे कुछ भी नहीं है । यदि मैं कुछ करने भी जाता हूँ, तो स्मरण हो आता है कि मैं यह नहीं कर सकता । यदि मुझे कुछ करना भी होगा, तो इसका निर्धारण श्रीरामकृष्ण ही करेंगे । और इस अग्निपरीक्षा से होकर गुजरना मेरे लिए अत्यन्त कठिन है ।"

अतः आत्मसमर्पण करना सहज नहीं है । हमें यह कहकर स्वयं को ठगना नहीं चाहिए कि – हमने सब कुछ ईश्वर को सौंप दिया है तथा हमें और कुछ नहीं करना है । हमें अपनी पूरी शक्ति लगाकर भगवत्प्राप्ति के लिए प्रयास करना होगा, तभी उनकी कृपा होगी। अन्तिम बात यह है कि हमारे अपने प्रयास से नहीं, बल्कि भगवत्कृपा से ही उनकी प्राप्ति होती है, परन्तु यह भी सच है कि बिना अपने प्रयास के वह कृपा भी नहीं होती । □

अपना भारत

रामानुज प्रसाद, ऊटकमण्ड

हो रही विस्मृत विरासत देश की, मिट रही अन्तर की संयम-शीलता ।
भारती के पुत्र में बस आज तो, रह गयी है खोखली वाचालता ॥
बँट चुके हम जाति-भाषा-धर्म से, भावनाएँ हो गयी हैं संकुचित ।
स्वार्थ की दीवार आपस में उठा, सोचते हैं हम यही तो है उचित ॥
सिर उठाता जा रहा है दिन-ब-दिन, नाग हिंसा-लोभ, ईर्ष्या-द्वेष का ।
मानवी मूल्यों को अब तो भूलकर, मान होता अर्थ-वैभव-वेष का ॥
आज पूरे राष्ट्र के ही खून में, घुल चुका है इस तरह तीखा जहर ।
राजनीतिक स्वार्थ के चलते सदा, हैं ढहाते लोग जनता पर कहर ॥
लड़ रहे हैं व्यर्थ ही दिन-रात हम, क्षुद्र सुविधाओं को पाने के लिए ।
देशप्रेमी नागरिक अब है कहाँ! लोगमंगल वास्ते ही जो जिए ॥

श्रीरामकृष्ण की जीवनगाथा

स्वामी प्रेमेशानन्द

४. सभी धर्मों की साधना

माँ का बारम्बार दर्शन पाने से रामकृष्ण की अधीरता काफी कुछ दूर हो गयी । वे समझ गये कि उनका लोभ व अभिमान अब भी समूल रूप से नष्ट नहीं हुआ है, इसी कारण वे माँ को जब इच्छा तभी सर्वदा देख नहीं पाते । इसीलिए लोभ को दूर करने के लिए वे एक हाथ में एक रुपया और दूसरे में मिट्टी का एक ढेला लिए गंगातट पर बैठकर इस प्रकार विचार करने लगे,"रुपये के द्वारा बहुत से सत्कार्य हो सकते हैं, परन्तु उसके द्वारा बहुत से दुष्कार्य भी होते हैं । विशेषत: हाथ में रुपया रहे, तो बड़ा अभिमान होता है और बिन्दु मात्र भी धन का लोभ रहे, तो भगवत्प्राप्ति नहीं होती । अत: जो व्यक्ति उन्हें पाने का प्रयास कर रहा है, उसे जैसे मिट्टी का ढेला सहायता नहीं कर सकता, वैसे ही रुपया भी कोई सहायता नहीं कर सकता, अतएव इस रुपये तथा मिट्टी के ढेले में कोई अन्तर नहीं ।" ऐसा सोचकर, 'रुपया-मिट्टी, मिट्टी-रुपया' कहते कहते, जब उन्हें भगवान के पथ में रुपये और मिट्टी का मूल्य समान प्रतीत हुआ, तब उन्होंने दोनों को गंगा के जल में फेंक दिया । अभिमान को दूर करने के लिए वे भिखारियों के जूठे पत्तल सिर पर उठाकर फेंक आये और यह सोचते हुए कि मेहतर से भी बड़े नहीं हैं, उन्होंने झाड़ू लेकर पाखाना साफ किया ।

इस प्रकार विविध प्रकार की साधनाएँ करने से उनका हृदय पूर्णरूपेण निर्मल हो गया, लोभ या अभिमान का लेश तक न रह गया । अब से उनका आश्चर्यजनक विनय भाव देखकर बड़े-से-बड़े दाम्भिक का घमण्ड चूर हो जाता, उनका लोभहीन चरित्र देखकर परम लोभी का भी मोह दूर हो जाता । वे दीन-हीन भिक्षुक के समान दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में पड़े रहते, उन्हें साधारण आदमी समझकर हर कोई उनके पास चला जाता और उनके साथ सरल भाव से धर्मचर्चा करता । उनके ज्ञानसिन्धु का बिन्दु मात्र पीकर लोगों का जीवन रूपान्तरित हो जाता ।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने माँ-काली से कहा,"माँ, मैं मूर्ख हूँ, पढ़ना-लिखना नहीं जानता, शास्त्र नहीं जानता । तू दया करके मुझे सब धर्मों के सभी शास्त्रों का सार बता दे!" जगदम्बा ने अपने प्रिय पुत्र की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए उनसे एक एक कर सभी धर्ममतों की साधना करायी, सभी धर्म विविध प्रकार से एक ही भगवान की बातें कहते हैं, इस महासत्य की शिक्षा दी । माँ काली की कृपा से रामकृष्ण समझ गये कि समस्त धर्मों के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है – 'जितने मत हैं, उतने पथ हैं ।'

उस समय सर्वप्रथम वे अपने कुलदेवता रघुवीर की आराधना में लगे । श्रीराम के प्रधान भक्त हनुमान जिस भाव से उनका चिन्तन करते थे, उसी भाव से उन्होंने भी रघुवीर की उपासना आरम्भ की । अब वे स्वयं को भूलकर रामचन्द्र का दास हनुमान समझने लगे । उनकी आकृति एवं स्वभाव में परिवर्तन आ गया । वे वृक्ष पर चढ़कर बैठे रहते, वानर के समान चंचल होकर वृक्ष की डालों पर उछल-कूद करते और छिलके-सहित फल को छोड़

और कुछ भी न खाते थे। उनकी यह अवस्था देख हृदय आदि सभी लोग बड़े भयभीत हुए। किसी के मन में ऐसी आशंका भी उठी थी कि उन पर भूत सवार हो गया है।

रामकृष्ण की माता तथा सम्बन्धी उनकी भावोन्मत्तता की बात सुनकर अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। प्रथम बार जब वे थोड़े शान्त हुए, तो उन लोगों ने सोचा कि बीमारी दूर हो रही है। पर इसके कुछ दिन बाद वे हनुमान के भाव में ऐसे विकट कृत्य करने लगे कि संवाद पाकर चन्द्रमणि और रामेश्वर को बड़ा भय लगा। छोटी सन्तान पर माता-पिता का वैसे ही थोड़ा अधिक स्नेह रहा करता है और फिर गदाधर का सरल स्वभाव सहज ही उनका मन आकृष्ट कर लेता था। प्रथमत: तो परदेश में रहने के कारण चन्द्रादेवी सदा ही रामकृष्ण के बारे में चिन्तित रहती थीं और तिस पर उनके इस तरह के आचरण की बात सुनकर वे अधीर हो उठीं और उन्हें घर लाने का प्रयास करने लगीं। इस बीच रामकृष्ण को हनुमान-भाव में सिद्धि प्राप्त हो गयी और वे शान्त होकर गाँव आये।

रामकृष्ण के आगमन का संवाद पाकर पड़ोस के लोग उन्हें देखने आये। वे लोग इनके बारे में कितनी ही बातें सुनते आ रहे थे, अब उन्होंने अपनी आँखों से देखा कि उनका गदाई पूर्ववत सरल प्रफुल्ल होकर भी अब मानो भगवान के भाव में डूब गया है – वह भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय पर बातें नहीं करता और कभी कभी भावविभोर होकर अचेत हो जाता है। सगे-सम्बन्धी सोचने लगे कि इतनी भाव-भक्ति अच्छी नहीं, इनका शीघ्र विवाह कर देना उचित होगा। इससे उनका मन संसार में लौट आयेगा और यह सब पागलपन भी दूर हो जाएगा। परामर्श के बाद यह निश्चित करके उन लोगों ने कामापुकुर से साढ़े तीन मील पश्चिम में स्थित जयरामबाटी ग्राम के श्रीयुत रामचन्द्र मुखोपाध्याय की पाँच वर्षीय कन्या के साथ उनका शुभ-विवाह सम्पन्न करा दिया।

घर आकर भी रामकृष्ण सदा ध्यान-चिन्तन में डूबे रहते थे। रात हो जाने पर वे ग्राम के बाहर स्थित 'भूतिर खाल' या 'बुधुई मोड़ल' के श्मशान में जाकर ध्यान किया करते थे।

कुछ दिन बाद रामकृष्ण कलकत्ता लौट आये। इसी समय एक संन्यासिनी दक्षिणेश्वर में आ पहुँची। रामकृष्ण को देखते ही वे उन्हें एक महापुरुष के रूप में पहचान गयीं और उन्हें तान्त्रिक प्रणाली के अनुसार साधना सिखाने लगीं। तान्त्रिक साधना बड़ी कठिन है और अत्यन्त जटिल एवं गोपनीय होने के कारण जगत् में इसका प्रचार अल्प ही हुआ है। अति उच्चकोटि का साधक हुए बिना इसमें सहज ही विपथगामी होने की सम्भावना है। कहते हैं कि इसके द्वारा बड़ी आसानी से ईश्वर-प्राप्ति होती है, परन्तु उन सब साधनाओं के बारे में सुनने से भी भय लगता है।

ये संन्यासिनी तंत्रशास्त्र की अद्वितीय विद्वान थीं तथा साधन-रहस्य भी जानती थीं। श्रीरामकृष्ण ने उनके उपदेशानुसार चौसठ प्रधान तंत्रों की समस्त साधना-प्रणालियों का एक एक कर आश्रय लिया और प्रत्येक में सिद्ध हुए। इन दिनों उन्हें इतने प्रकार के दिव्य-दर्शन होते थे, जिनका कोई अन्त न था। दिन भर वे भगवद्भाव में विभोर रहते और संन्यासिनी साधना के लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटाने में लगी रहतीं। सन्ध्या के समय क्रिया-कलाप आरम्भ होकर भोर में समाप्त होता। काली मन्दिर के उत्तर-पश्चिम किनारे पर बिल्व-वृक्ष के नीचे पाँच मृतकों के सिर गाड़कर 'पंचमुण्डी' आसन बना और उसी स्थान पर 'श्मशान-साधना' नामक विश्व के सर्वाधिक आश्चर्यजनक साधना का अनुष्ठान हुआ। गंगा

तट पर पंचवटी और तुलसी-कानन बनाकर रामकृष्ण ने विविध प्रकार की साधनाएँ कीं। तान्त्रिक साधना के पश्चात उन्होंने वैष्णव शास्त्रों के अनुसार साधना करके भगवत्प्राप्ति की। शान्त, दास्य आदि पाँच भावों में से प्रत्येक की साधना उन्होंने की; फिर पंचरात्र, गौड़ीय आदि विभिन्न पथों का भी अनुसरण किया। पूर्वोक्त संन्यासिनी वृन्दावन-लीला के भजन गातीं और सुनते सुनते रामकृष्ण समाधिमग्न हो जाते। वे जब जिस भाव की साधना करते, तब उसके सभी प्रकार के नियम आदि मानकर चलते। मधुर भाव की साधना के दिनों में वे श्रीराधा की सखी भाव से स्त्रियों की पोशाक पहने रहते और कृष्ण-प्रेम के लिए दिन-रात व्याकुलतापूर्वक राधाजी से प्रार्थना करते। श्री चैतन्यदेव का ध्यान-चिन्तन करके उन्होंने उनका दर्शन पाया और भाव-नेत्रों से उनका महा-संकीर्तन देखा। हनुमानजी के भाव में उनकी श्रीराम-उपासना का पहले ही उल्लेख हो चुका है। अब उन्होंने पुनः वात्सल्य भाव से श्रीराम-उपासना करके उनकी फिर प्राप्ति की। इसके बाद उन्होंने शैव साधना की थी।

सबके अन्त में पुरी सम्प्रदाय के नागा संन्यासी यतिराज श्रीमत् स्वामी तोतापुरी परमहंस परिव्राजक महाराज यदिच्छा भ्रमण करते हुए दक्षिणेश्वर आ पहुँचे। रामकृष्ण को देखते ही वे उन्हें वेदान्त साधना के उत्तम अधिकारी के रूप में पहचान गये थे और पूछा कि क्या वे ज्ञानयोग की साधना करना पसन्द करेंगे। रामकृष्ण के सहमत होने पर उन्होंने उनको यथाविधि संन्यास प्रदान किया और वेदान्त शास्त्र के उपदेश सुनाने लगे। दो-एक उपदेश देने के बाद ही तोतापुरीजी ने देखा कि रामकृष्ण निर्विकल्प समाधि में डूब गये हैं। जिस समाधि को पाने के लिए उन्हें चालीस वर्ष तक प्राणपण से प्रयास करना पड़ा था, रामकृष्ण को उसकी अनायास ही उपलब्धि करते देखकर महाज्ञानी तोतापुरीजी आश्चर्यचकित हो गये। दो-तीन दिन बिताकर आगे चल देने के विचार से वे वहाँ आये थे, परन्तु इस अद्भुत शिष्य को पाकर उनके ग्यारह महीने वहीं बीत गये।

इस प्रकार केवल बारह वर्ष में हिन्दू धर्म के सभी धर्ममतों की साधना करके रामकृष्ण ने सिद्धि लाभ की। उन सभी मतों में से प्रत्येक में सिद्ध होने में उन्हें तीन दिन से अधिक समय नहीं लगा। उनके मन में जब जिस तरह की साधना की इच्छा होती, भगवत्कृपा से उसके लिए आवश्यक सारी सामग्री तथा उपयुक्त उपदेष्टा भी अपने आप ही जुट जाते। एक एक मत में सिद्धि पाने के बाद वे कुछ दिनों तक उसी भाव में विभोर रहते। तब उसी मत के सिद्ध और साधक लोग आकर उनके साथ उसी विषय पर चर्चा करते हुए आनन्द मनाते और उनसे उपदेश ग्रहण करते। इन बारह वर्षों के दौरान उन्हें एक क्षण के लिए भी निद्रा नहीं आयी। इस काल में उनके आहार आदि का कोई नियम न था। दिन और रात कैसे बीत जाते थे, इसका उन्हें बोध ही न रहा। देख-रेख के अभाव में उनके सिर के बाल जटा बन गये थे। पंचवटी के नीचे ध्यानमग्न रामकृष्ण को जड़ वस्तु समझ चिड़ियाँ उनके सिर पर बैठकर खेला करती थीं। एक बार तो वे इतने गहन ध्यान में डूब गये थे कि सब लोगों ने उन्हें देखकर मृत समझा। भाग्यवश उस समय काली-मन्दिर में एक साधु आये हुए थे, जो समझ गये कि ये महापुरुष समाधिस्थ हैं, ज्यादा दिन इसी अवस्था में रहे, तो देहत्याग हो जाएगा। अतः वे छह महीने तक उनके पास रहे और अत्यन्त कष्टपूर्वक बीच बीच में उनकी समाधि भंग कराकर कुछ कुछ खिलाते रहते। साधना काल में रामकृष्ण की ऐसी कितनी ही प्रकार की अलौकिक अवस्थाएँ हुई थीं, जिनका इस लघु रचना में वर्णन

करना सम्भव नहीं। जिन्हें विस्तृत रूप से जानने की इच्छा हो, वे श्रीमत् स्वामी सारदानन्द लिखित 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' नामक ग्रन्थ का पाठ कर सकते हैं।

इन कठोर साधनाओं के फलस्वरूप उनके शरीर एवं मन की एक विचित्र अवस्था हो गयी थी। उनका शरीर एक बालक के समान कोमल हो गया था। जैसे हम लोग ठण्डक और गर्मी महसूस किया करते हैं, ठीक वैसे ही किसी के निकट आने पर वे उसके देह-मन की पवित्रता-अपवित्रता का अनुभव करते थे। कोई दुराचारी व्यक्ति उनके शरीर का स्पर्श करता, तो उन्हें जलते अंगारे के स्पर्श-सा अनुभव होता। धातु से बनी किसी चीज को वे छू नहीं पाते, निद्रामग्न अवस्था में भी यदि कोई उनके हाथ में रुपया-पैसा छुलाता तो वे बिच्छू के डंक के समान कष्ट पाते। उनका मन मानो सम्पूर्ण जगत् का दर्पण हो गया था। भूत-वर्तमान-भविष्य को वे सामने रखी हुई वस्तु के समान ही स्पष्ट रूप से देख पाते थे। उनके मन में ऐसी शक्ति आ गयी थी कि इच्छामात्र से ही वे किसी भी व्यक्ति के मन में धर्मभाव का संचार कर देते थे।

एक बार उनके मन में यह देखने की साध हुई कि मुसलमान धर्मावलम्बी किस प्रकार भगवान की प्राप्ति करते हैं। अत: तीन दिनों तक उसी भाव में रहकर उन्होंने पाया कि मुसलमान के खुदा और हिन्दुओं के ईश्वर में मूल वस्तु एक ही है, भेद केवल भाषा का है। इसी प्रकार वे ईसाई भाव में भी तीन दिन डूबे रहे और देखा कि उस पथ से भी भगवान को पाया जा सकता है।

सर्व प्रकार की साधनाओं में सिद्धिलाभ करने के बाद उन्हें पेट की भयंकर बीमारी हुई। काफी चिकित्सा के बाद भी रोग दूर न होने पर सबने सलाह दी कि यदि कुछ दिनों के लिए वे गाँव चले जायँ, तो आबो-हवा के परिवर्तन से उनकी बीमारी ठीक हो सकती है। तदनुसार मथुरबाबू ने ठाकुर के सभी प्रकार के खर्चों की व्यवस्था करके हृदय के साथ उन्हें गाँव भेजा। कुछ दिन वहाँ रहने पर उनके पेट की बीमारी ठीक हो गयी और तब वे पुन: दक्षिणेश्वर लौट आये।

इसके बाद वे मथुरबाबू के साथ काशी आदि तीर्थस्थानों का दर्शन करने गये। काशी में विश्वनाथजी का दर्शन करने को जाते समय वे शिवजी का चिन्तन करते हुए मार्ग में ही समाधिस्थ हो गये। अत: बाह्यचक्षुओं से उनका विश्वनाथ-दर्शन नहीं हुआ, ज्ञानचक्षु से ही उन्होंने चिन्मय मूर्ति को देखा। किसी भी देवता के दर्शन को जाते समय वे इसी प्रकार समाधिस्थ हो जाते थे और बाह्यनेत्रों से देव-दर्शन नहीं हो पाता। जो लोग अपने हृदय में जीवन्त भगवान को देख पाते हैं, उनके लिए शिला-प्रस्तर की मूर्ति का दर्शन करने की क्या आवश्यकता! वृन्दावन में श्रीकृष्ण का लीला-क्षेत्र देखकर वे 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहकर रोते हुए आकुल हो गये थे। श्रीकृष्ण की परमभक्त तपस्विनी ने उनसे वृन्दावन में ही रह जाने का बड़ा हठ किया। रामकृष्ण की भी वृन्दावन में निवास करने की खूब इच्छा हुई थी, परन्तु यह सोचकर कि उनके अभाव में उनकी माता को पुत्र-विरह का कष्ट होगा, वे मथुरबाबू के साथ दक्षिणेश्वर लौट आये।

५. धर्मप्रचार, देहत्याग और तदुपरान्त

जैसे फूल खिलने पर भ्रमर को बुलाकर नहीं लाना पड़ता, वैसे ही मानव-हृदय में भगवान की यथार्थ अभिव्यक्ति होने पर साधु-भक्तगण अपने आप ही उन्हें खोज निकालते

हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि रामकृष्ण के पास भारत के सभी सम्प्रदायों के साधक व सिद्धगण आया करते थे। अब कलकत्ता तथा आसपास के सभी धर्मपरायण लोग भी उनके पास आने लगे। नरेन्द्रनाथ आदि उनके प्रधान शिष्यों का आगमन इन्हीं दिनों हुआ।

ब्राह्मसमाज के आचार्य श्रीयुत् केशवचन्द्र सेन के साथ जब उनकी मुलाकात हुई, तो उनका पाँच वर्ष के बालक के समान सरल भाव से 'माँ' 'माँ' कहते हुए भगवान को पुकारना और उन्हीं पर पूर्ण रूप से निर्भरता का भाव देखकर केशव अत्यन्त मुग्ध हुए। वे अपनी संस्था द्वारा प्रकाशित होनेवाले समाचार-पत्र में इन अद्भुत साधु के बारे में लिखने लगे। इसके फलस्वरूप दल के दल लोग आकर उनकी करुणा एवं सरलतापूर्ण पवित्र जीवन, उनका उदार मन और तीव्र ईश्वरानुराग देखकर अपना जीवन सार्थक करने लगे। उन दिनों अनेक शिक्षित लोग हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों को न समझ पाकर नास्तिक के समान हो गये थे। वे लोग रामकृष्ण के पास जाकर देखते कि वे दिन-रात भगवान के भाव में आनन्दमग्न रहा करते हैं। उनका भगवत्प्रेम देखकर इन लोगों का सन्देह दूर हो जाता। गिरीश घोष, डॉक्टर रामचन्द्र, महेन्द्र गुप्त आदि उनके उदार धर्मभाव पर मुग्ध होकर उनके शिष्य हो गये। इन महेन्द्र बाबू ने ही 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नामक ग्रन्थ लिखा है। वे रामकृष्ण के मुख से जो अपूर्व उपदेश सुनते, घर लौटकर अपने आनन्द के लिए उन्हें लिखकर रख लेते। अब उन्हीं का प्रकाशन कराकर उन्होंने विश्व को उस आनन्द से मतवाला कर दिया है। महात्मा दुर्गाचरण नाग आदि महापुरुषों ने भी इसी काल में उनके त्याग का आदर्श ग्रहण किया। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी उनके पास जाकर धर्म की बातें सुना करते थे। विद्यासागर, बंकिमचन्द्र, मधुसूदन दत्त आदि सुप्रसिद्ध लोग इन निरक्षर भट्टाचार्य का अगाध ज्ञान देखकर आश्चर्यचकित हो गये थे।

स्वामी विवेकानन्द का पूर्वनाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। ये अपने बचपन से ही देखते कि सभी लोग धर्म की बातें तो करते हैं, परन्तु कोई यह नहीं कहता कि उसने भगवान को देखा है, मानो धर्म केवल वार्तालाप और चर्चा का ही विषय हो। फिर कोई कोई थोड़ा-बहुत आचार-अनुष्ठान, ध्यान-चिन्तन तो करता है, परन्तु वह भी भगवान को प्राप्त करने के लिए व्याकुल नहीं है। उनमें बाल्यकाल से ही सत्य को जानने तथा धर्म को पाने की एक अदम्य आकांक्षा थी। परन्तु यह सब देखकर वे हताश हो गये थे। घटनाचक्र से उन्होंने भी रामकृष्ण का नाम सुना और उनके पास जाकर देखा कि ये महापुरुष सब कुछ त्यागकर केवल भगवान के बारे में बोलते बोलते समाधिस्थ हो जाते हैं, दिन-रात भगवान को छोड़ किसी अन्य विषय पर चर्चा नहीं करते, जैसे पाँच वर्ष का बालक माँ के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता वैसे ही ये भगवान के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते! फिर सभी धर्म उनके लिए समान हैं – कृष्ण, खुदा, गॉड, काली सभी उनकी दृष्टि में एक हैं। सभी मनुष्यों के भीतर वे भगवान को देखते हैं, यहाँ तक कि जगत के भले-बुरे सभी व्यक्तियों को वे भगवान की मूर्ति समझकर प्रणाम करते हैं। अपने जीवन का सम्पूर्ण आदर्श रामकृष्ण में रूपायित देखकर नरेन्द्रनाथ ने उनके चरणों में अपना मन-प्राण सौंप दिया। उपयुक्त शिष्य पाकर रामकृष्ण ने भी उन्हें अपने महा-समन्वय धर्म में दीक्षित किया और जगत में उसका प्रचार करने के लिए उन्हें तैयार करने लगे। धीरे धीरे राखाल आदि संसार-विरागी शुद्धचित्त बालकों ने भी उनका शिष्यत्व स्वीकार किया।

रामकृष्ण का शरीर बालकों के समान कोमल था। थोड़े में ही उन्हें ठण्ड लग जाती थी। एक बार ठण्ड लगकर उनके गले में सूजन आ गयी, जो धीरे धीरे बढ़कर घाव में परिणत हो गयी। शिष्यगण चिकित्सा की सुविधा के लिए उन्हें कलकत्ता के श्यामपुकुर मुहल्ले में ले गये और बड़े बड़े डॉक्टरों को बुलाकर दवा कराने लगे। परन्तु रोग क्रमश: बढ़ता ही गया। अन्त में उन लोगों ने कलकत्ते के उत्तरी छोर पर स्थित काशीपुर में एक उद्यान-भवन किराये पर लिया और उन्हें वहाँ ले जाकर प्राणपण से उनकी सेवा-सुश्रूषा में लग गये, परन्तु रोग में कोई सुधार नहीं दीख पड़ा। इसके पूर्व ही उनकी पत्नी श्री सारदादेवी ने शिष्य के समान उनका आश्रय लेकर कठोर साधना के द्वारा पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इन दिनों उन्होंने भी जी-जान से रामकृष्ण की सेवा की। रामकृष्ण संघ में वे भी 'माँ' के रूप में रामकृष्ण के समान ही पूजित हो रही हैं।

इन दिनों भी रामकृष्ण के पास अनेक लोग आते थे। जब उनका बोलना बिल्कुल बन्द हो जाता, तब वे किसी को स्पर्श करके, किसी के प्रति कृपा-दृष्टि डालकर अथवा किसी को आशीर्वाद देकर लोगों के मन में धर्मभाव का संचार करने लगे। जैसे फल-विक्रेता बाजार में आकर पहले तो निश्चित दर पर, वजन और खूब हिसाब से फल बेचता है, परन्तु सन्ध्या के समय घर लौटने की उतावली में बचे हुए फल, जो भी कीमत मिल जाय उसी पर मानो बाँट देता है; वैसे ही रामकृष्ण अब अपने आसन्न देहत्याग की बात को जानकर जो भी मिला, उसे ही धर्मभाव देने लगे।

एक रात वे गहरी समाधि में डूब गये। सबने सोचा कि शीघ्र ही उनका बाह्यज्ञान लौट आयेगा, परन्तु सारी रात व्यतीत हो जाने पर भी उनकी समाधि भंग नहीं हुई, बल्कि उनकी देह में मृत्यु के लक्षण दीख पड़ने लगे। वह १८८६ ई. के १६ अगस्त का दिन था। अपने जीवन के कर्णधार प्रेममय गुरुदेव के महासमाधि ले लेने की बात समझकर शिष्यगण अत्यन्त शोकार्त हो गये और अगले दिन अपराह्न में गंगातट पर अपने गुरुदेव की पवित्र देह का संस्कार करने के बाद शून्य मन के साथ लौट आये।

बालक-भक्तगण अपने गुरुदेव के प्रति बड़े अनुरक्त थे और सदा उन्हीं के बारे में सोचते रहते थे। वे लोग अब गृहस्थी में रह नहीं सके और घर-द्वार त्यागकर एक जगह एकत्र होकर संन्यासी का-सा जीवन बिताने लगे। कई वर्षों तक कठोर साधना करके उन्होंने अपने गुरुदेव के उपदेशों को जीवन में रूपायित किया। तदुपरान्त इस महान आदर्श का जगत् में प्रचार करने के लिए विविध उपाय करने लगे। स्वामी विवेकानन्द (नरेन्द्रनाथ) पृथ्वी पर सर्वत्र भ्रमण करते हुए हिन्दू-धर्म की व्याख्या करने लगे। भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों पर एक एक कर मठ स्थापित होने लगे। इन मठों में रहकर रामकृष्ण के संन्यासी शिष्यगण धर्म का प्रचार करते थे और अनेक लोग उनके त्याग का आदर्श ग्रहणकर धन्य हो जाते।

अब, भारत के प्राय: सभी प्रमुख स्थानों तथा विश्व के अनेक देशों में रामकृष्ण के नाम पर मठों की स्थापना करके उनके अनुगामी संन्यासी उनके उदार मत का प्रचार कर रहे हैं।

□ (समाप्त) □

हमारी शिक्षा (११)

स्वामी निर्वेदानन्द

१४. संस्थाओं के प्रकार (जारी)

स्कूल तथा कॉलेज

तरुणाई की अवस्था में पहुँचने के पूर्व तक हमारे बच्चों के लिए एक छात्रावास के स्थान पर उचित तरीके से चलाये हुए एक विद्यालय के द्वारा काफी उत्तम सेवा प्रदान की जा सकती है। इस सन्दर्भ में हमें सर्वदा स्मरण रखना होगा कि हमारे बच्चे मानो आग में जलते एक मकान में हैं और तत्काल राहत की माँग कर रहे हैं। जब तक कि उन्हें स्कूली शिक्षा की प्रचलित अस्वाभाविक प्रणाली[1] के मरणान्तक दबाव से मुक्त नहीं किया जाता, उनमें से अधिकांश के लिए स्वस्थ विकास का कहीं कोई मौका नहीं है। इसीलिए हमारा विश्वास है कि स्कूली शिक्षा में सुधार के लिए अविलम्ब सक्रिय प्रयास होना चाहिए। जब तक यह सम्बद्ध अधिकारियों द्वारा नहीं किया जाता, प्रत्येक समाज-सेवी संगठन का यह कर्तव्य है कि वह हर दृष्टि से पूर्णत: आधुनिक कुछ मॉडल विद्यालयों की स्थापना करे, और इसके साथ ही हमारी पुरानी भारतीय प्रणाली में जो कुछ भी निश्चित रूप से उत्तम तथा स्वस्थ है, उनके प्रति निष्ठावान बना रहे।

ऐसे स्कूलों की परिस्थितियाँ जहाँ तक अनुमति दें, वहाँ तक 'प्रारम्भिक बातें' अध्यायों में वर्णित सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने का गम्भीर प्रयास किया जाना चाहिए।

प्रकार (३-क) – नर्सरी स्कूल

शिक्षा की समस्या के प्रति एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ने यह आवश्यक बना दिया है कि विभिन्न आयुवर्ग के बालकों के साथ बिल्कुल अलग अलग प्रकार का व्यवहार किया जाय। पश्चिम के शैक्षणिक कार्यक्रम में तीन से छह साल की आयुवर्ग के बालकों को एक विशेष स्थान मिला हुआ है। इस दौरान वे औपचारिक शिक्षा से कहीं अधिक सामाजिक अनुभव के लिए नर्सरी स्कूलों में जाते हैं। इस आयु में उनके बाल-मन की क्षमताएँ जहाँ तक अनुमति देती हैं, उन्हें हर प्रकार के आकर्षक उपकरणों, खेलों तथा मनोरंजन के साधनों द्वारा उनकी निरीक्षण की शक्तियों का विकास किया जाता है, उनकी मनोयोग की क्षमता को प्रशिक्षित किया जाता है और उनकी स्वाभाविक लज्जाशीलता तथा शरारत करने की प्रवृत्ति पर विजय पाना और साथ ही वे अपने साथी छात्रों के साथ सम्मानपूर्वक तथा उपयोगी ढंग से रहना सिखाया जाता है।

हमारे देश में, जहाँ तक स्कूली शिक्षा का प्रश्न है, बालक के प्रथम पाँच वर्षों का जीवन बंजर छोड़ दिया जाता है। अच्छा होगा कि हम लोग भी पाश्चात्य अनुभव से लाभ उठायें और प्रयोगों के द्वारा यह जानने का प्रयास करें कि भारतीय शिशुओं के लिए किस प्रकार के नर्सरी स्कूल उपयुक्त होंगे।

---

१. देखिए – अप्रैल अंक में प्रकाशित इसी ग्रन्थ का चौथा अध्याय

बालकों तथा बालिकाओं के मिले-जुले एक नर्सरी स्कूल पूरी तौर से सुयोग्य महिला शिक्षिकाओं के द्वारा चलाया जाना चाहिए । विशेषकर शिशुओं को एक मातृसुलभ स्नेह तथा देखभाल के वातावरण में विकसित होना चाहिए । उनके कोमल मन के साथ किसी भी हालत में कुछ करने के लिए जोर-जबरदस्ती न किया जाय । अपने स्वाभाविक विकास के लिए उन्हें केवल इतनी ही आवश्यकता है कि समय बिताने के रोचक तथा सक्रिय साधनों के माध्यम से सुयोग्य हाथों के द्वारा कोमलतापूर्वक परिचालित करते हुए उन्हें उचित कार्य करने को आकृष्ट तथा प्रेरित किया जाय ।

ऐसी महिला शिक्षिकाओं को नर्सरी स्कूलों में शिक्षा देने के लिए पहले से ही प्रशिक्षण दिया जाय । इसके अतिरिक्त भारतीय शिशुओं के सामान्य विकास को सुनिश्चित करने के लिए नर्सरी स्कूलों की पाश्चात्य संरचना को किस प्रकार परिवर्तित किया जाय, इस विषय में शोध करने के लिए ऐसे स्कूलों के संचालकों के पास दृष्टि तथा उत्साह हो । उन्हें इस समस्या को प्रायोगिक भाव से अपनाना होगा, क्योंकि तभी वे इस देश की शिशु-शिक्षा के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण योगदान कर पाने में सक्षम होंगे ।

प्रकार (३-ख) – प्राथमिक स्कूल

छह से ग्यारह वर्ष के बालक-बालिकाओं को सह-शिक्षा देनेवाले एक प्राथमिक स्कूल को अनेक उपकरणों तथा विशेषज्ञ ज्ञान की नितान्त आवश्यकता होती है । यह उतना ही आवश्यक है जितना कि स्कूल का परिसर तथा उसके शिक्षक । प्रत्येक ऐसा समाज-सेवी संगठन देश की मूल्यवान सेवा करेगा, जो कुछ मॉडल प्राइमरी स्कूलों की स्थापना करके, धैर्य तथा सुव्यवस्थित प्रयोगों के द्वारा यह खोज निकाले कि किस प्रकार जन तथा धन की यथासम्भव मितव्ययिता के साथ, भारतीय परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा विज्ञान के पूर्ण यौक्तिक तथा सार्वभौमिक सिद्धान्तों को अपनाया जा सकता है । प्रत्येक संगठन कम-से-कम एक ऐसा स्कूल चलाने पर अपना ध्यान केन्द्रित करके भारत के शिशु-शिक्षा के क्षेत्र में कुछ-न-कुछ महत्वपूर्ण योगदान करने का गम्भीर प्रयास करे ।

यहाँ शायद फिर से दुहराने की आवश्यकता नहीं होगी कि 'क्रिया के द्वारा सीखना' ही इन प्राथमिक स्कूलों का एक वैशिष्ट्य हो । बच्चों की अभिरुचि तथा क्षमता के अनुरूप सूत-कताई या कोई अन्य हस्तशिल्प या इसी प्रकार की अन्य अनेक चीजों के साथ जहाँ तक सम्भव हो, विभिन्न विषयों पर उनके पाठों को समायोजित किया जाय । और जैसा कि वर्धा योजना बताती है, "शिक्षण में सहकारी क्रिया के सिद्धान्तों, सुनियोजन, यथार्थता, उद्यम तथा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर बल दिया जाना चाहिए ।" इस दौरान उन्हें केवल अपनी मातृभाषा ही सीखने की जरूरत है, और वह भी धीरे धीरे मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया जाय । उनके लिए जितना भी सम्भव हो, उन्हें अपनी आदतों में स्वच्छ, सुघड़, सुव्यवस्थित तथा स्वावलम्बी; और स्वभाव से साहसी, ईमानदार तथा सक्रिय रहने का प्रशिक्षण दिया जाय ।

संक्षेप में, शारीरिक तथा व्यावहारिक योग्यता के प्रशिक्षण से सम्बन्धित तथा दूसरे अध्याय में वर्णित 'स्पष्ट कमियों' को सम्बद्ध शिक्षकों द्वारा सचेत तथा विवेकपूर्ण प्रयासों के द्वारा जहाँ तक सम्भव हो, पूरा किया जाय । ऐसे स्कूल यथासम्भव महिला शिक्षकों के अधीन कार्य करें ।

किसी भी समाज-सेवी संगठन के लिए हमारी दृष्टि में यह उचित नहीं होगा कि ग्रामीण पुनर्निर्माण के एक आवश्यक अंग के रूप में केवल सामान्य प्रकार के प्राथमिक स्कूलों की स्थापना करने दौड़ पड़े और यह सोचकर अपने को सान्त्वना दे कि इस प्रकार वह देश की महत्वपूर्ण सेवा कर रहा है।

प्रकार (३-ग) – माध्यमिक स्कूल

इससे बड़े बालक तथा बालिकाओं के लिए अलग अलग मॉडल स्कूल स्थापित करना श्रेयस्कर होगा। हमें सदा स्मरण रखना होगा कि जिस प्रकार बालकों तथा बालिकाओं की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं में भेद है, उसी प्रकार छोटे तथा बड़े बच्चों में भेद है। लगभग बारह वर्ष की आयु में जब तरुणाई का आगमन होता है, तब बालकों तथा बालिकाओं के मानसिक गठन में एक बड़ा परिवर्तन आता है और इससे उनके शिक्षण की पद्धति तथा साथ ही उनके अध्ययन के विषयों में एक नये समायोजन की आवश्यकता उत्पन्न करता हैं। इसीलिए मोटे तौर पर बारह से चौदह साल की आयु-वर्ग के बालकों या बालिकाओं के लिए पूर्णत: अलग व्यवस्था की जाय, जिन्हें सुविधा के लिए मिडिल या माध्यमिक स्कूल कहा जा सकता है।

ऐसा स्कूल प्राथमिक तथा पूर्व-प्राथमिक कक्षाओं से रहित पुरानी प्रणाली के एम. ई. स्कूलों के समतुल्य होगा। हमारे मॉडल माध्यमिक स्कूलों का किसी भी विदेशी भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। व्यावसायिक प्रशिक्षण का प्रावधान इनका एक प्रमुख वैशिष्ट्य होगा और बाकी सभी विषयों के पाठ उसी के साथ सम्बद्ध होंगे। प्राथमिक स्कूलों के समान ही माध्यमिक स्कूलों की शिक्षा भी एक या अधिक मूलभूत हस्तशिल्प पर केन्द्रित होगी। ऐसी संस्थाओं को राष्ट्रीय मिडिल स्कूल या उच्चतर प्राथमिक स्कूल कहना अधिक उपयुक्त होगा। नि:सन्देह ये प्राथमिक तथा पूर्व प्राथमिक स्कूल भी जारी रहेंगे, यद्यपि उन्हें अपने विशिष्ट खेल तथा मनोरंजन की पद्धति से अपनी विशेष दिनचर्या, पाठ्यक्रम, शिक्षण-प्रणाली तथा अनुशासन के साथ अलग से चलाया जायगा।

यह देखना होगा कि माध्यमिक स्कूल की समाप्ति तक छात्र को एक ऐसी सर्वांगीण शिक्षा प्राप्त हो जाय, जो समाज के एक स्वस्थ तथा उपयोगी सदस्य के रूप में उसके भावी जीवन पर एक स्थायी प्रभाव प्रभाव डालता रहे। 'कार्य के द्वारा सीखना' इन स्कूलों की विशेषता बनी रहे और यह भी देखना होगा कि कोर्स के अन्त में प्रत्येक छात्र के पास कम-से-कम एक मूलभूत शिल्प का व्यावहारिक ज्ञान हो। ग्रामीण क्षेत्रों में मिडिल स्कूल के बालकों को विशेषकर स्थानीय परिस्थितियों के उपयुक्त कम-से-कम एक वैकल्पिक मूलभूत हस्तशिल्प के साथ ही कृषि-शिक्षा भी देना उत्तम होगा। बालिकाओं के लिए मिडिल स्कूलों में चुनी जानेवाली दस्तकारी सामान्य रूप से सभी बालिकाओं की विशिष्ट अभिरुचि तथा स्वभाव के साथ, और विशेष रूप से उस स्थान के साथ विशेष सम्बन्ध रखनेवाला हो।

पुरानी प्रणाली को सुधारने की दिशा में हमारी वर्तमान सरकार इस दिशा में सावधानी से अग्रसर होती हुई-सी प्रतीत होती है।

प्रकार (३)(घ) – हाई स्कूल

माध्यमिक स्कूल मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों के लिए हैं और बहुसंख्यक बालक-बालिकाओं को सही प्रकार की शिक्षा देने के लिए पर्याप्त समझे जा सकते हैं, जबकि कस्बों

तथा नगरीय क्षेत्रों और साथ ही समृद्ध तथा उन्नत गाँवों में हाई स्कूल हो सकते हैं । अब तक लगता है कि एच. ई. स्कूलों की काफी कुछ इसी आधार पर स्थापना की गयी है ।

प्राइमरी तथा पूर्व-प्राइमरी के समकक्ष निम्नतर पाठ्यक्रमों को हाई स्कूलों से अलग किया जा सकता है, ताकि वे मोटे तौर पर बारह से सोलह वर्ष की आयुवर्ग के विद्यार्थियों को सम्भाल सकें । इस आयुवर्ग के बालकों तथा बालिकाओं के लिए अलग.अलग स्कूल होने चाहिए । पढ़ाई का माध्यम निश्चित रूप से विद्यार्थी की मातृभाषा हो । इन स्कूलों द्वारा दिये जा रहे केवल बौद्धिक शिक्षण के साथ ही पूरक के रूप में पाठ्यक्रम के अतिरिक्त एक तरह का व्यावसायिक प्रशिक्षण देना भी उत्तम रहेगा । इन स्कूलों के शिक्षण के मूल्य को बढ़ाने के लिए, परिस्थितियाँ जहाँ तक अनुमति दें, समाज-सेवा पर विशेष बल के साथ खेलकूद, भ्रमण और स्काउट या गाइड की गतिविधियाँ भी रहें ।

कहना न होगा कि इन स्कूलों के द्वारा किसी भी विदेशी भाषा सिखाने की आवश्यकता से छुटकारा पाने का पहला ही मौका हाथ से नहीं जाने दिया जाय । इसके अतिरिक्त स्कूल के परिवेश, शिक्षकों के चरित्र तथा आचरण और साथ ही शिक्षण तथा अनुशासन के बेहतर तरीकों – वस्तुत: उन सभी चीजों पर जो विद्यार्थियों को शरीर तथा मन से सबल बनाएँ, प्रत्येक मामले में जहाँ तक सम्भव हो, विशेष ध्यान दिया जाय ।

स्मरण रखना होगा कि मिडिल तथा हाई स्कूलों को भी प्राइमरी स्कूलों से कम विशेषज्ञों तथा उपकरणों की आवश्यकता नहीं है । अत: प्रत्येक संगठन को किसी भी प्रकार का एक स्कूल प्रारम्भ करने के पूर्व अपनी शक्तियों का आकलन कर लेना उचित होगा । उसे किसी भी हालत में इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि वह देश में कुछ प्रचलित ढंग की संस्थाएँ स्थापित करके शिक्षण के उद्देश्य को पूरा कर सकता है ।

प्रकार (३)(ङ) – छात्रावासों से जुड़े मिडिल या हाई स्कूल

विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक या अन्य कारणों से माध्यमिक या हाई स्कूलों को छात्रावासों की स्थापना की आवश्यकता पड़ सकती है । ऐसे छात्रावास प्रकार २ (ग) के अनुरूप हो सकते हैं । छात्रावास केवल विद्यार्थियों के निवास का ही नहीं; अपितु एक ऐसे स्थान का भी काम करेंगे, जहाँ मस्तिष्क, हाथ तथा हृदय के समन्वित विकास के लिए उपयोगी एक सुव्यवस्थित गृह-प्रशिक्षण प्राप्त हो सकेगा ।

प्रकार (४) – आवासीय स्कूल

प्राचीन गुरुकुल प्रणाली के अनुरूप एक पूर्णत: आवासीय विद्यालय निश्चय ही सर्वाधिक शैक्षणिक महत्व का होगा । बारह वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए अपने माता-पिता के साथ रहना ही उत्तम होगा, क्योंकि उस कोमल आयु में वे पुरुष-शिक्षकों से जितना कुछ प्राप्त कर सकते हैं, निश्चित रूप से उससे कहीं अधिक उन्हें स्नेहपूर्ण देखभाल की आवश्यकता होगी । हमारी प्राचीन प्रणाली में विद्यालय में प्रवेश की आयु प्राय: नौ वर्ष होती थी । उसी समय उनका उपनयन संस्कार सम्पन्न करने के बाद उन्हें गुरु के गृह में प्रवेश मिल जाता था, जहाँ उनकी पुत्रवत देखभाल होती थी ।

वैसे आवासीय विद्यालय से हमारा तात्पर्य है – ब्रह्मचर्य आश्रम की पद्धति पर चलाया गया एक ऐसा विद्यालय है, जहाँ बालक या बालिकाएँ बारह वर्ष की आयु से स्कूली शिक्षा

की समाप्ति तक निवास करेंगे और बौद्धिक शिक्षा के साथ-ही-साथ उनके शरीर तथा मन के सर्वांगीण विकास के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, वह सब प्राप्त करेंगे।

अत: एक आवासीय विद्यालय एक स्वास्थ्यवर्धक स्थान में स्थित हो और इसकी पारिवेशिक अवस्था शारीरिक तथा मानसिक विकास में सहायक हो – यही ऐसी संस्था की पहली आवश्यकता है।

दूसरी आवश्यकता है – सुधरी हुई प्रणाली अपनाना। हम पहले ही बता आये हैं कि जहाँ तक हमारे स्कूली बच्चों का सवाल है, जब तक उन्हें हमारे साधारण स्कूलों में आम तौर पर प्रचलित शिक्षण के अवैज्ञानिक तथा अस्वाभाविक प्रणाली के दोषों से बचाया नहीं जाता, तब तक उनके शरीर, कुशलता तथा चरित्र के विकास हेतु कितनी भी मात्रा में की गयी पूरक प्रशिक्षण की व्यवस्था व्यर्थ जायेगी। यही कारण है कि एक आवासीय विद्यालय में सुधरी हुई पद्धतियों को अपनाना परम आवश्यक है।

इसके बाद शारीरिक विकास, कुशलता में प्रगति और साथ ही चरित्र-निर्माण हेतु जो कुछ भी आवश्यक है, उसे निश्चित रूप से जुटाना होगा। इन आवश्यकताओं का पहले ही पिछले कुछ अध्यायों में उल्लेख किया जा चुका है। वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत दिये जाने वाले केवल बौद्धिक शिक्षा के पूरक के रूप में उपयुक्त ढंग से कुछ व्यावसायिक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

प्रत्येक विद्यार्थी के शरीर-मन के स्वस्थ विकास हेतु यथासम्भव व्यक्तिगत रूप से उसे सारी सुविधाएँ उपलब्ध कराना एक आवासीय विद्यालय का मूल उद्देश्य है और इस कारण इसे चलाने के अत्यन्त कठिन तथा जटिल कार्य में विशेषज्ञों द्वारा देखभाल एवं अनेक उपयुक्त उपकरणों की आवश्यकता होगी। एक आवासीय विद्यालय बनाते समय हमें स्मरण रखना होगा कि देश के समक्ष बालकों या बालिकाओं के लिए एक सर्वांगीण संस्था का नमूना प्रस्तुत करना ही हमारा तात्कालिक उद्देश्य है, केवल इसी कारण इस कार्य से जुड़े अपने उत्तरदायित्वों के विषय में हमें विशेष रूप से सजग रहना होगा और सर्वदा अपनी क्षमताओं के आकलन पर विशेष ध्यान देते हुए बड़ी सावधानीपूर्वक आगे बढ़ना होगा।

इस कार्य की कठिनाइयों तथा जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए, उचित तो यह लगता हैं कि हम बौद्धिक शिक्षा को बाहरी स्कूलों के हाथ में छोड़कर, आवश्यक पूरक प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था के साथ ब्रह्मचर्य आश्रमों की पद्धति पर छात्रावास चलाने पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करें। ऐसे छात्रावासों को चलाने में आवासीय विद्यालयों की अपेक्षा कम लोगों तथा संसाधनों की आवश्यकता होगी और 'मनुष्य-निर्माण तथा चरित्र-गठन के लिए भावों को आत्मसात करने' में जो कुछ भी आवश्यक है, वह सब प्रदान करके ये काफी मूल्यवान सिद्ध होंगे। अस्तु, जब तक एक संगठन के पास बड़ी संख्या में उत्तम चरित्रवाले सुयोग्य शिक्षक, संचालक तथा अन्य प्रकार के कार्यकर्ता न हों, उसे आवासीय विद्यालय स्थापित करने के कार्य में हाथ डालना उचित नहीं। उसे सदा स्मरण रखना होगा कि यदि इन मूलभूत आवश्यकताओं की अनदेखी की गयी, तो ऐसे विद्यालय को स्थापित करने का उद्देश्य ही विफल हो जायगा। दूसरे, कुछ चुने हुए चरित्रवान लोगों द्वारा 'प्रकार २ (ग)' के ढंग का एक ऐसा छात्रावास चलाया जा सकता है, जिसमें स्थानीय स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करनेवाले लगभग दो सौ विद्यार्थियों के निवास की व्यवस्था हो सकती है।

इस विषय से सम्बन्धित जो कुछ भी कहा गया, वह अलग से पूर्णत: महिला शिक्षिकाओं तथा संचालकों की व्यवस्था में चलाये जानेवाले बालिकाओं के आवासीय विद्यालयों पर भी समान रूप से लागू होता है ।

प्रकार (५) – कॉलेज

हमारे देश के समाजसेवी संगठनों के सीमित संसाधनों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि बौद्धिक शिक्षा का कार्य बाहर के कॉलेजों पर छोड़कर 'प्रकार २ (क)' में बताये गये युवक तथा युवतियों के लिए अलग अलग छात्रावास चलाकर, उनके लिए अपनी शक्ति में मितव्ययिता लाना ही उत्तम होगा । वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत कॉलेज की शिक्षा देने की व्यवस्था में अनावश्यक विस्तार से केवल शक्ति तथा संसाधनों का अपव्यय ही होगा । और इस विषय में प्रत्येक संगठन को यथासम्भव कठोर मितव्ययिता बरतनी होगी । वैसे, कॉलेजों के पीछे लगाया गया श्रम भी सार्थक हो सकता है, बशर्ते उन्हें वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत किसी विश्वविद्यालय से न जोड़कर राष्ट्रीय पद्धति पर शिक्षा के स्वाधीन केन्द्र बना दिये जायें । कहना न होगा कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के समान एक स्वाधीन राष्ट्रीय विश्वविद्यालय खोल पाने के संसाधन से युक्त एक संगठन निश्चित रूप से कॉलेजों की स्थापना कर सकता है । जैसा कि स्पष्ट है, ऐसे मामलों में शिक्षा के बौद्धिक अंश के लिए भी व्यवस्था करना न्यायसंगत है ।

प्रकार (६) – विशेष कॉलेज तथा स्कूल

यद्यपि हमने स्कूलों तथा छात्रावासों में पूरक प्रशिक्षण के रूप में कृषि तथा औद्योगिक पाठ्यक्रमों को जोड़ने का सुझाव दिया है, तथापि हम आशा नहीं कर सकते कि उनमें से कोई भी कृषि की एक सर्वांगीण शिक्षा अथवा अनेक लाभकारी उद्योगों तथा हस्तशिल्पों, या प्रौद्योगिकी या वाणिज्य का एक सुव्यवस्थित प्रशिक्षण देने में समर्थ हो सकेगा ।

देश में फैली बेकारी की गम्भीर समस्या और तकनीकी, व्यावसायिक, औद्योगिक तथा कृषि-सम्बन्धी प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त सुविधाओं के अभाव को ध्यान में रखते हुए, समाज-सेवी संस्थाएँ यदि इस पद्धति पर स्कूल तथा कॉलेजों की स्थापना करने का प्रयास करें, तो वे शिक्षा के उद्देश्य को बेहतर ढंग से सम्पन्न कर सकेंगी । वैसे इनमें से प्रत्येक के लिए विशाल धनराशि की आवश्यकता होगी । तथापि, चूँकि वर्तमान परिस्थितियों में ऐसी संस्थाओं की उपयोगिता नि:सन्दिग्ध है, प्रत्येक संगठन को ऐसे स्कूल तथा कॉलेजों की स्थापना का कोई भी अवसर छोड़ना नहीं चाहिए ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भारत की राष्ट्रीय सरकार अपने संसाधनों की उपलब्धता के अनुसार इस तरह के अधिकाधिक स्कूल व कॉलेज स्थापित करने का गम्भीरता से प्रयास कर रही है । लखनऊ तथा शान्तिनिकेतन में चलाये जा रहे संगीत, कलाओं तथा कलात्मक हस्तशिल्पों के लिए कॉलेज भी बड़े शैक्षणिक महत्व के हैं और अपनाये जाने योग्य हैं ।

□ (क्रमश:) □
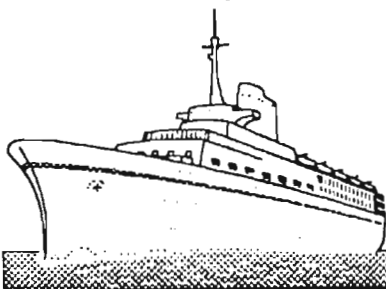
ईशावास्योपनिषद् (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनानत वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमासा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु उपनिषदों पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। हम उनमें से सबसे लघु तथा शुक्ल यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय के रूप में प्राप्त ईश या ईशावास्य उपनिषद् पर लिखे शांकर-भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हमने सामान्य अध्येताओं के लिए भाष्य में आये अधिकांश कठिन सन्धियों को तोड़कर सरल रूप में देने का प्रयास किया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

कर्म के साथ उपासना का योग -

ये तु कर्मिण: कर्मनिष्ठा: कर्म कुर्वन्त: एव जिजीविषव: तेभ्य: इदं उच्यते -

जो लोग कर्ममार्गी हैं, कर्म में निष्ठा रखनेवाले हैं और कर्म करते हुए ही जीने के इच्छुक हैं, उनके लिए यह (अगला मंत्र) कहा जाता है –

अन्धं तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रता: ।।९।।

भावार्थ – जो लोग (केवल) अविद्या (कर्मकाण्ड) के अनुष्ठान में लगे रहते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। और जो लोग (केवल) विद्या (उपासना) में लगे रहते हैं, वे उससे भी गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

भाष्य - कथं पुन: एवं अवगम्यते न तु सर्वेषाम् इति ।

शंका – परन्तु यह कैसे ज्ञात हुआ कि (यह मंत्र) सबके लिए नहीं है?

उच्यते - अकामिन: साध्य-साधन-भेद-उपमर्देन 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा-एव-अभूत्-विजानत:, तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वं अनुपश्यत:' (ईशा. ७) इति यद्-आत्मैकत्व-विज्ञानम् (उक्तम्) तत् न केनचित् कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा हि अमूढ: समुच्चिचीषति। इह तु समुच्चिचीषया अविद्वत्-आदि-निन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चय: सम्भवति न्यायत: शास्त्रतो वा तद् इह उच्यते यद्-दैवं वित्तं देवता-विषयं ज्ञानं कर्म-सम्बन्धित्वेन उपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्। 'विद्यया देवलोक:' (बृ. उ. १/५/१६) इति पृथक्-फल-श्रवणात्। तयो: ज्ञान-कर्मणो: इह एकैक-अनुष्ठान-निन्दा समुच्चिचीषया न निन्दापर-एव एक-एकस्य पृथक्-फल-श्रवणात् 'विद्यया तद् आरोहन्ति' 'विद्यया देवलोक:', 'न तत्र दक्षिणा: यन्ति', 'कर्मणा पितृलोक:' (बृ. उ. १/५/१६) इति। न हि शास्त्र-विहितं किञ्चिद् अकर्तव्यताम् इयात्।

समाधान – बताते हैं। कामनारहित व्यक्ति द्वारा साध्य (स्वर्ग आदि) और साधन (धन आदि) के भेद का नाश करके "जिस अवस्था में सभी प्राणी अपनी आत्मा ही हो जाते हैं – ऐसे एकत्व का अनुभव करनेवाले ज्ञानी को भला कौन-सा मोह और कौन-

सा शोक हो सकता है?'' – इस प्रकार जो आत्मा के एकत्व-ज्ञान की प्राप्ति बतायी गयी है, उसको विवेकी व्यक्ति किसी अन्य कर्म या विद्या के साथ समुच्चय करना (जोड़ना) नहीं चाहेगा। परन्तु यहाँ समुच्चय की इच्छा से अज्ञानी आदि की निन्दा की गयी है। ऐसी अवस्था में युक्ति या शास्त्र से जिसका जिसके साथ समुच्चय हो सकता है, उसी के अनुसार ब्रह्मविद्या के साथ नहीं बल्कि देवता-विषयक ज्ञान (उपासना) को ही कर्म का सम्बन्धी बताया गया है; क्योंकि 'विद्या (उपासना) से देवलोक की प्राप्ति होती है'' – इस प्रकार (उस ब्रह्मविद्या से) अलग फल सुनने में आता है। यहाँ पर केवल निन्दा के उद्देश्य से नहीं, बल्कि समुच्चय की इच्छा से ही उपासना तथा कर्म के अलग अलग अनुष्ठान की निन्दा की गयी है, क्योंकि एक एक का (दोनों का) अलग अलग फल सुनने में आता है – 'विद्या से वे ऊपर उठते हैं', ''विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है', 'दक्षिण-मार्गवाले (कर्मकाण्डी) वहाँ नहीं जाते', 'कर्म से पितृलोक मिलता है'। (इस प्रकार दोनों का फल बताने के कारण) शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट (दोनों में से) कोई भी अकरणीय नहीं हो जाता।

तत्र अन्धं तमो अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति। के? ये अविद्यां विद्याया अन्या अविद्यां तां कर्म इत्यर्थः, कर्मणो विद्या-विरोधित्वात्, तां अविद्यां अग्निहोत्रादि-लक्षणां एव केवलां उपासते तत्पराः सन्तः अनुतिष्ठन्ति इति अभिप्रायः। ततो तस्माद् अन्धात्मकात् तमसो भूय इव बहुतरं एव ते तमः प्रविशन्ति। के? कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायां एव देवताज्ञान एव रताः अभिरताः।

वे लोग न दिखनेवाले अन्धकार में प्रवेश करते हैं। कौन लोग? जो विद्या से भिन्न अविद्या अर्थात् कर्म, विद्या का विरोधी होने से कर्म को अविद्या कहा है, उस अग्निहोत्र आदि अविद्या (कर्म) में जो तत्पर रहते हैं या अनुष्ठान करते हैं – ऐसा तात्पर्य है। और उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं वे लोग ...। कौन लोग? जो कर्मकाण्ड को छोड़कर केवल देवता-ज्ञान (उपासना) में ही निरत रहते हैं।

तत्र अवान्तर-फलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चय-कारणं आह; अन्यथा फलवत्-अफलवतोः सन्निहितयोः अङ्ग-अङ्गिता-एव स्यात् इत्यर्थः ।।९।।

उपासना तथा कर्म – इन दोनों का समुच्चय कराने के लिए ही इनका अवान्तर अर्थात् गौण रूप से फलभेद बताया गया है, अन्यथा फलवाला तथा फलहीन साथ साथ हों तो (एक मुख्य तथा दूसरा गौण होकर) दोनों के बीच अंग-अंगी भाव हो जायेगा (अर्थात् ये दोनों अलग अलग है)।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१०।।

भावार्थ – उपासना का फल अलग बताया गया है और कर्म का फल अलग ही बताया गया है – ऐसा हमने ज्ञानी पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे लिए इन (उपासना तथा कर्म) की व्याख्या की थी।

भाष्य - अन्यत् पृथक् एव विद्यया क्रियते फलं इति आहु: वदन्ति 'विद्यया देवलोक:' (बृ. उ. १/५/१६) 'विद्यया तदारोहन्ति' इति श्रुते:। अन्यद् आहु: अविद्यया कर्मणा क्रियते 'कर्मणा पितृलोक:' (बृ. उ. १/५/१६) इति श्रुते:। इति एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम्। ये आचार्या नो अस्मभ्यं तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्त: तेषां अयं आगम: पारम्पर्यागत इत्यर्थ:।।१०।।

कहते हैं कि उपासना से अलग ही फल उत्पन्न होता है, श्रुति में भी कहा है – 'विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है', 'विद्या से वे ऊपर उठते हैं' । और कर्म को अलग फल उत्पन्न करनेवाला कहते हैं, श्रुति में है – 'कर्म से पितृलोक मिलता है' । ऐसा हमने ज्ञानियों का वचन सुना है । उन आचार्यों ने हमारे लिए उस कर्म तथा उपासना की व्याख्या की थी अर्थात् यह ज्ञान परम्परा-क्रम से आया है ।

दोनों के साथ साथ अनुष्ठान का फल -

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।।११।।

भावार्थ – जो व्यक्ति उपासना (देवता-ज्ञान) तथा कर्म – दोनों को साथ साथ (करने-योग्य) जानता है, वह कर्म के द्वारा मृत्यु को पार करके उपासना के द्वारा अमृत (देवत्व) को प्राप्त कर लेता है ।

भाष्य - यत: एवं अत: विद्यां च अविद्यां च देवताज्ञानं कर्म च इत्यर्थ: य: तद् एतत् उभयं सह एकेन पुरुषेण अनुष्ठेयं वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण एव एक-पुरुषार्थ-सम्बन्ध: क्रमेण स्यात् इति उच्यते ।

ऐसी स्थिति में, जो विद्या अर्थात् देवता-ज्ञान और अविद्या अर्थात् कर्म – इन दोनों को एक ही व्यक्ति द्वारा अनुष्ठेय जानता है, उस समुच्चयकारी को ही एक-पुरुषार्थ-सम्बन्ध अर्थात् एक ही व्यक्ति को क्रमश: दोनों फल मिलते हैं, वही आगे बताते हैं –

अविद्यया कर्मणा अग्निहोत्रादिना मृत्युं स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यं उभयं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया देवताज्ञानेन अमृतं देवतात्मभावं अश्नुते प्राप्नोति । तत् हि अमृतं उच्यते यद्-देवतात्मगमनम् ।।११।।

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्मों के द्वारा मृत्यु अर्थात् स्वाभाविक कर्म तथा ज्ञान – इन दोनों को पार करके विद्या अर्थात् देवता-ज्ञान के द्वारा देवता के स्वरूप को प्राप्त करता है । इस देवतात्म-भाव की प्राप्ति को ही अमृत कहते हैं ।

अधुना व्याकृत-अव्याकृत-उपासनयो: समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दा-उच्यते -

अब व्यक्त अर्थात् कार्य-ब्रह्म और अव्यक्त अर्थात् कारण-ब्रह्म – इन दोनों की उपासनाओं का समुच्चय करने की इच्छा से उनकी अलग अलग निन्दा करते हैं –

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ।।१२।।

भावार्थ – जो लोग अव्यक्त (प्रकृति) की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो व्यक्त (हिरण्यगर्भ) की उपासना करते हैं, वे उससे भी गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं ।

भाष्य - अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिं सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणं-अविद्या अव्याकृत-आख्या तां असम्भूतिं अव्याकृत-आख्यां प्रकृतिं कारणं अविद्यां काम-कर्म-बीजभूतां अदर्शनात्मिकां उपासते ये ते तदनुरूपं एव अन्धं तमो अदर्शनात्मकं प्रविशन्ति । ततः तस्माद् अपि भूयो बहुतरं इव तमः प्रविशन्ति य उ सम्भूत्यां कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भ-आख्ये रताः ।।१२।।

सम्भूति का अर्थ है – उंत्पन्न होना और उत्पन्न हुआ (अर्थात्) कार्य भी सम्भूति कहलाता है । इसके अतिरिक्त बाकी सब असम्भूति या प्रकृति, कारण, अविद्या या अव्याकृत कहलाता है । जो लोग कामना तथा कर्म की बीजभूत और अदर्शनात्मिका अव्याकृत प्रकृति, कारण या अविद्या की उपासना करते हैं, वे उसी के अनुरूप न दिखनेवाले अन्धकार में प्रवेश करते हैं । उससे भी गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं वे लोग, जो हिरण्यगर्भ नामक कार्य-ब्रह्म की उपासना में लगे रहते हैं ।

व्यक्त तथा अव्यक्त उपासना के अलग अलग फल -

अधुना उभयोः उपासनयोः समुच्चय-कारणं अवयव-फलभेदं आह -

अब दोनों उपासनाओं का समुच्चय कराने हेतु उनके अलग अलग फल बताते हैं –

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१३।।

भावार्थ – व्यक्त (कार्यब्रह्म) की उपासना का अलग फल बताया गया है और अव्यक्त (कारण-ब्रह्म) की उपासना का अलग ही फल बताया गया है – ऐसा हमने ज्ञानी पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे लिए इनकी व्याख्या की थी ।

भाष्य - अन्यदेव पृथक् एव आहुः फलं सम्भवात् सम्भूतेः कार्यब्रह्म-उपासनात्-अणिमादि-ऐश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्तः इत्यर्थः । तथा च अन्यत् आहुः असम्भवात् असम्भूतेः अव्याकृताद् अव्याकृत-उपासनात्; यद्-उक्तं अन्धं तमः प्रविशन्ति इति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैः उच्यते इति एवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नः तत्-विचचक्षिरे व्याकृत-अव्याकृत-उपासनफलं व्याख्यातवन्तः इत्यर्थः ।।१३।।

सम्भूति या कार्यब्रह्म की उपासना का अन्य ही फल – अणिमा आदि[१] ऐश्वर्यों की

१. ईश्वरीय गुणों को ऐश्वर्य कहते हैं । आठ ऐश्वर्य या सिद्धियाँ इस प्रकार हैं –

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च प्राप्तिः प्राकाम्यमेव च ।।

– सूक्ष्म हो जाना, विशाल हो जाना, भारी हो जाना, हल्का हो जाना, शासक बन जाना, वश में कर लेना, इच्छानुसार वस्तु की प्राप्ति और जैसा चाहे वैसा रूप बना लेना ।

प्राप्ति – कहा गया है। वैसे ही असम्भूति अर्थात् अव्यक्त या प्रकृति की उपासना का अलग ही फल – 'घोर अन्धकार में प्रवेश' बताया गया है, जिसे पौराणिकों की भाषा में 'प्रकृतिलय' कहा जाता है – ऐसा हमने ज्ञानियों का वचन सुना है, जिन्होंने हमारे लिए कहा था अर्थात् व्याकृत तथा अव्याकृत उपासनाओं के फल की व्याख्या की थी।

यतः एवं अतः समुच्चयः सम्भूति-असम्भूति-उपासनयोः युक्त एव एकपुरुषार्थत्वात् च इति आह -

ऐसा होने से और एक ही व्यक्ति के लिए (दोनों) फल प्राप्त करानेवाली होने के कारण व्यक्त (कार्यब्रह्म) तथा अव्यक्त (कारण-ब्रह्म) – दोनों की उपासना के समुच्चय को उचित ठहराते हुए अगला मंत्र कहता है –

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

भावार्थ – जो असम्भूति अर्थात् कारण-ब्रह्म तथा विनाश अर्थात् कार्य-ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) – दोनों को साथ साथ उपासना करने योग्य जानता है, वह कार्य-ब्रह्म की उपासना से मृत्यु को पार करके कारण-ब्रह्म की उपासना से अमृत अर्थात् देवत्व प्राप्त करता है।

भाष्य - सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह। विनाशेन – विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणा अभेदेन उच्यते विनाश इति, तेन तदुपासनेन अनैश्वर्यमं अधर्म-कामादि-दोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा – हिरण्यगर्भ उपासनेन हि अणिमादि-प्राप्तिः फलम्, तेन अनैश्वर्यादि-मृत्युं अतीत्य असम्भूत्या अव्याकृत-उपासनया अमृतं प्रकृतिलय-लक्षणं-अश्नुते। सम्भूतिं च विनाशं च इति अत्र अ-वर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः प्रकृतिलय-फलश्रुति-अनुरोधात्॥१४॥

विनाश और उत्पत्ति गुण है जिस कार्य-ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) का, उसके इस गुण के साथ अभिन्न मानकर उसे 'विनाश' कहा गया है। तेन का अर्थ है उसकी उपासना से अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपासना से प्राप्त होनेवाले अणिमा आदि ऐश्वर्यों के द्वारा, अनैश्वर्य, अधर्म तथा कामना आदि दोषों से उत्पन्न होनेवाले मृत्यु को पार करके, असम्भूत्या अर्थात् अव्यक्त (प्रकृति) की उपासना के द्वारा प्रकृतिलय रूपी अमृत को प्राप्त कर लेता है। 'सम्भूतिं च विनाशं च' – इसमें (सम्भूतिं के पूर्व) 'अ' वर्ण का लोप मानना चाहिए, क्योंकि उसका फल प्रकृतिलय बताया गया है।

□(क्रमशः)□
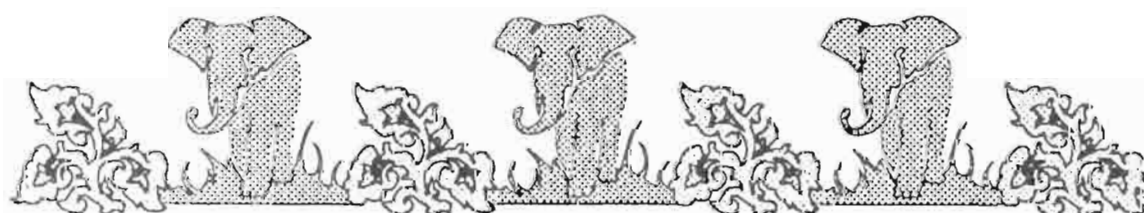
मनुष्य की महिमा

भैरवदत्त उपाध्याय

मानव अद्‌भुत कलाकार की सर्वश्रेष्ठ रचना है। दृश्य जगत् के समस्त प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट है। यह न केवल बाह्य शारीरिक रूप से सुन्दर है, अपितु आन्तरिक रूप से भी अनुपम और असाधारण है। मस्तिष्क एवं हृदय से, विचार एवं भाव से सम्पन्न यह ऐसी कलाकृति है, जो सर्वात्मना समग्र और सम्पूर्ण है। इसमें कहीं भी किसी प्रकार की कोई 'खोट' नहीं है। 'खोट' को तो कुम्भकार ने गढ़-गढ़कर निकाल दिया है – 'गढ़ि-गढ़ि काढ़े खोट।' मानव शरीर अनन्त साधनाओं और सिद्धियों का द्वार है। यह धर्मक्षेत्र तथा कुरुक्षेत्र दोनों है। पुराणों ने इसे भोग व कर्मयोनि निरूपित किया है, जबकि अन्य योनियाँ मात्र भोगपरक ही प्रतिपादित हैं। देवता भी इसे पाने की कामना करते हैं। कर्मक्षय के बाद उन्हें स्वर्ग से इसी नर-देह में आना पड़ता है। जीव को यह योनि ऐसे ही नहीं मिलती; उसे चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है, तब कहीं मानव-देह पाने की सम्भावना बनती है; सुनिश्चय नहीं होता, क्योंकि सम्भव है कि भोगाश शेष होने के कारण पुण्योदय की वेला न आयी हो। मनुष्य परमात्मा का प्रिय पुत्र है। ईश्वर ने इसकी रचना अपने ही समान की है। निजी रूप देकर सृजन-शक्ति का अमोघ वरदान दिया है। अन्य जीवों की अपेक्षा इस पर उनका वात्सल्य अधिक ही है। इसीलिए उन्होंने इसके साथ कुछ पक्षपात भी किया है। वाणी, बुद्धि, करुणा, मुदिता, मैत्री, क्षमा, सहिष्णुता, सहानुभूति, उदारता आदि अनेक मानवीय गुण उसी की देन हैं, जिनसे इसकी श्रेष्ठता प्रमाणित होती है।

मानव के आसुरी गुण तो आरोपित हैं, विजातीय हैं, मायाजन्य हैं, अतः असत् हैं। उसका सत्य-स्वरूप तो मानव का अपना ही है, जिसके बल पर उसने अपनी सामाजिकता स्थापित की है। वह पापी नहीं है, निष्कलुष है। उसे पापी कहना भ्रान्त धारणा है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "मनुष्य को पापी कहना ही पाप है। यह कथन मानव-समाज पर एक लांछन है।" सन्त विनोबा ने कहा था, "मनुष्य को स्वभाव से दुष्ट मान लेने में निखिल मानव जाति का अपमान तो है ही, निराशावाद भी इसमें कमाल का है।"

मानव का लक्ष्य, उसका पुरुषार्थ, उसका प्राप्तव्य और उसका धर्म मानव होना ही है। डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा था, "मानव का दानव होना उसकी हार है, मानव का महामानव बनना उसका चमत्कार है और मानव का मानव बनना उसकी विजय है।" मानव का आराध्य मानव है। इसीलिए महात्मा बुद्ध, ईसा, गाँधी आदि महापुरुषों ने मानव-सेवा को ही सर्वोपरि धर्म मानकर उसमें जीवनार्पण किया था। मानव की महिमा व गरिमा असीम है। उससे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वह सबके ऊपर है। उसके ऊपर कोई नहीं है –

सबार ऊपर मानुष, ताहार ऊपर नाई। - चण्डीदास

☐ ☐ ☐